स्वाध्याय स्वमन्थन स्वावलम्बन

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज

उत्तर प्रदेश सरकार का एकमात्र मुक्त विश्वविद्यालय

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥

MAHI-112
रीडर - दो
II - प्रेमचन्द्र का विशेष अध्ययन

IGNOU

हिन्दी उपन्यास विवेचना
(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)



सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021
www.uprtou.ac.in
टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333

उत्तर प्रदेश
राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय

MAHI-112
रीडर - दो
II - प्रेमचन्द्र का विशेष अध्ययन

हिन्दी उपन्यास विवेचना

(आलोचनात्मक लेखों का संग्रह)

संकलन और संपादन
सुश्री स्मिता चतुर्वेदी

सहयोग
संजीब कुमार

NMDC-088

पाठ्यक्रम विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी	**संकाय सदस्य**
प्रो. निर्मला जैन	प्रो. वी. रा. जगन्नाथन (कार्यक्रम संयोजक)
प्रो. मैनेजर पाण्डेय	प्रो. जवरीमल्ल पारख
प्रो. असगर वजाहत	प्रो. रीता रानी पालीवाल
प्रो. गोपाल राय	डॉ. सत्यकाम
प्रो. सत्यप्रकाश मिश्र	डॉ. राकेश वत्स
प्रो. ललिताम्बा	डॉ. शत्रुघ्न कुमार
	डॉ. विमल खांडेकर
	श्रीमती स्मिता चतुर्वेदी

सितम्बर, 2003 (पुर्नमुद्रित)
© इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2003
ISBN-81-266-0624-X
सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदानगढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित ।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के अनुमति से पुनः मुद्रित। उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज **की ओर से** डॉ. अरूण कुमार गुप्ता **कुलसचिव द्वारा पुनः मुद्रित एवं प्रकाशित,** 2021
मुद्रक : चन्द्रकला यूनिवर्सल प्रा0 लि0 42/7 जवाहरलाल नेहरू रोड प्रयागराज 211002

अनुक्रम

क्र.सं.	लेख का शीर्षक	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1.	बाह्य का विस्तार : 'झूठा सच'	नेमिचन्द्र जैन	9
2.	कविदृष्टि का अभाव	कुँवरनारायण	23
3.	ऐतिहासिक त्रासदी और मानवीय जिजीविषा	परमानंद श्रीवास्तव	29
4.	झूठा सच: पीड़ित मानवत्र का स्वर	शशिभूषण सिंहल	37
5.	इतिहास/जो नहीं है और इतिहास जो है	निर्मला जैन	49
6.	आंचलिक उपन्यास और जीवन-मर्म	परमानंद श्रीवास्तव	56
7.	इतिहास का रचनात्मक वृत: ज़िन्दगीनामा	विजय मोहन सिंह	62
8.	जीवन के प्रति अडिग आस्था	'अज्ञेय'	75
9.	एक नवीन कथा-प्रयोग : 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'	गिरिजाकुमार माथुर	78
10.	एक मुँहजोर घोड़ा और सूरज का रोशन गोला	देवेन्द्र इस्सर	83
11.	प्रेम एक माध्यम	रणधीर सिन्हा	94
12.	सचमुच बहुत तेजस्वी है 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'	राजकुमार गौतम	99
13.	'राग दरबारी' व्यंग्य दृष्टि या व्यंग्य लीला (?)	नित्यानंद तिवारी	106
14.	छुद्रताओं के महा वृत्तांत से महानताओं की छुद्रता तक	वीरेन्द्र यादव	114
15.	असन्तोष का खट राग	नेमिचन्द्र जैन	138

NMDC-088

भूमिका

एम.ए. (हिन्दी) के पाठ्यक्रम - 15 'हिन्दी उपन्यास-2' से संबंधित पाठ्य सामग्री के अध्ययन के एक अंग के रूप में यह आलेख संग्रह तैयार किया गया है। अब तक आपने चार खंडों में प्रस्तुत हिन्दी के चार प्रमुख उपन्यासों से संबद्ध 16 इकाइयों का अध्ययन कर लिया होगा। इस पाठ्यक्रम का प्रत्येक खंड हिन्दी के एक विशिष्ट उपन्यास पर आधारित है। सभी खंडों के अन्त में उस खण्ड में पढ़ाए जा रहे उपन्यास के विषयों से सम्बद्धित उपयोगी पुस्तकों की सूची भी हमने प्रस्तावित की है। इन पुस्तकों या ग्रंथों का आप सहायक सामग्री के रूप में अध्ययन कर सकते हैं। उपन्यास के लेखक या उपन्यास के विषय विशेष की अधिक जानकारी के लिए संभव है, आपको सभी उपयोंगी पुस्तकें या ग्रंथ उपलब्ध न हो सकें। इन सभी बातों को ध्यान में रखते हुए यह संग्रह तैयार किया गया है। इस संग्रह को तैयार करते समय हमारा प्रयत्न रहा है कि पाठ्यक्रम में पढ़ाए जा रहे चार उपन्यासों से संबंधित जो सामग्री हम इस आलेख-संग्रह में शामिल करें उनसे आपको समग्र रूप में उन उपन्यासों को समझने में अधिक सहायता मिले तथा आप उन पर अपनी आलोचनात्मक दृष्टि विकसित कर सकें। परन्तु पाठ्यक्रम के खंडों एवं आलेख संग्रह का अध्ययन करने से पहले हमारी आपसे अपेक्षा है कि आप पाठ्यक्रम में पढ़ाए जा रहे चारों उपन्यासों को अवश्य पढ़ें।

प्रस्तुत पाठ्यक्रम में आप जिन चार उपन्यासों का अध्ययन कर रहे हैं वे हैं - **झूठा सच** (यशपाल), **ज़िन्दगीनामा** (कृष्णा सोबती), **सूरज का सातवाँ घोड़ा** (धर्मवीर भारती) तथा **राग दरबारी** (श्रीलाल शुक्ल)। इस पुस्तक में हमने इन्हीं चार उपन्यासों पर आधारित आलेखों का संग्रह किया है। संग्रह के पहले चार आलेख 'झूठा सच' से संबद्ध हैं। 'झूठा सच' यशपाल का बृहताकार उपन्यास है जो दो भागों में बिभक्त है। इस उपन्यास का आधार-फलक अत्यन्त विस्तृत है। देश के विभाजन से व्यक्ति और समाज के जीवन पर पड़े प्रभाव को आधार बनाकर यशपाल ने उस पूरे युग और परिवेश को विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में चित्रित करने का प्रयास किया है। इस उपन्यास से संबंधित आलेखों के अंतर्गत पहला आलेख नेमिचन्द जैन का है। उन्होंने उपन्यास में प्रस्तुत यशपाल के विचारों एवं उपन्यास के कुछ विशिष्ट बिन्दुओं पर चर्चा की है। उन्होंने यह तो स्वीकार किया है कि विभाजन जैसी त्रासदी को लेखक नें अपने सर्जनात्मक कार्य की विषयवस्तु बनाया है और उस क्षण को जीवन्त करने का सराहनीय कार्य किया है। उन्होंने यह भी माना है कि यशपाल

के पास वह उपयुक्त ऐतिहासिक दृष्टि है जिसके माध्यम से उन्होंने एक युग विशेष के व्यापक जनजीवन के विविध पक्षों का 'अवलोकन और निरीक्षण' किया है। इस राजनीतिक घटना के आधार को जानने की प्रक्रिया में लेखक ने उपन्यास के पहले खण्ड में साम्प्रदायिकता के आर्थिक-राजनीतिक और धार्मिक तीनों ही पक्षों का निरीक्षण किया है। लेख में आगे चलकर नेमिचन्द जी ने उपन्यास में जीवन की भव्यता, उदात्तता और सुन्दरता के प्रति सजगता के अभाव का विवेचन किया है। उन्होंने उपन्यास की दुर्बलता पर प्रकाश डालते हुए यह प्रस्तावित किया है कि 'झूठा सच' में 'जिन्दगी का अधूरा साक्षात्कार' है। संग्रह का दूसरा आलेख कुँवर नारायण का 'कविदृष्टि का अभाव' है। इस आलेख में लेखक ने 'झूठा सच' के चरित्रों का चित्रण उस उपन्यास के सर्वाधिक सशक्त अंक के रूप में माना है। इन चरित्रों के माध्यम से ही कुँवर नारायण जी ने आलेख में आगे चलकर उपन्यास के कथानक, भाषा आदि पर भी विचार किया है। इस क्रम में तीसरा आलेख 'ऐतिहासिक त्रासदी और मानवीय जिजीविषा' है। इस आलेख में लेखक ने झूठा सच की कथा के प्रमुख बिन्दुओं, चरित्र, नायक आदि पर विचार किया है। इस आलेख में भी लेखक ने स्वीकार किया है कि विभाजन जैसी विस्फोटक ऐतिहासिक घटना को सर्जन का अंग बनाकर यशपाल ने एक चुनौती को स्वीकार किया है। इस उपन्यास में कथा के विस्तार के साथ ही चरित्रों की बहुलता भी है। इन चरित्रों के अंकन में भी आलेख-लेखक के अनुसार यशपाल की कुछ सीमाएँ दृष्टिगत होती हैं। इन सीमाओं पर भी लेखक ने विचार किया है। चौथा आलेख शशिभूषण सिंहल जी का है। आलेख में उन्होंने झूठा सच को 'अखबारी कतरन' कहने के प्रश्न पर चर्चा की है। इस संदर्भ में उन्होंने माना है कि विभाजन जैसी किसी ऐतिहासिक घटना पर विस्तार से लेखन के लिए उपन्यासकार को आधार सामग्री के रूप में इतिहास, समाचार-पत्र आदि से वस्तुस्थिति की जानकारी लेना आवश्यक है, नहीं तो उसके लेखन में प्रामाणिकता का अभाव होगा। उन घटनाओं और ऐतिहासिक सामग्री को यशपाल ने संगठित कथा-सूत्र में पिरोया है और यह उनकी उपलब्धि है। आलेख के अंत में 'झूठा सच' के महाकाव्यत्व पर चर्चा की गई है। ये तीनों आलेख 'झूठा सच' का समग्रता में मूल्यांकन करते हैं। एक उपन्यास के रूप में 'झूठा सच' के विविध पक्षों और विशिष्टताओं को हमारे समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

अगले तीन आलेख 'ज़िन्दगीनामा' उपन्यास से संबद्ध हैं। ये तीनों आलेख क्रमशः निर्मला जैन, विजयमोहन सिंह और परमानंद श्रीवास्तव के हैं। प्रो. जैन ने माना है कि 'ज़िन्दगीनामा' एक ऐसी कालजयी रचना है जिसने उपन्यास के परंपरागत

NMDC-088

ढाँचे को चुनौती दी है। इस कृति की वास्तव में अपनी एक विशिष्ट पहचान है। इसके केन्द्रीय चरित्र ही जिन्दगी हैं। प्रो. जैन ने इस उपन्यास के 'क्रमहीन और बेतरतीब' होने के प्रश्न पर भी विचार किया है। इस संदर्भ में उनका मानना है कि यह प्रश्न इसलिए उठाया गया क्योंकि पाठ्यक्रमोपयोगी संक्षिप्त संस्करण निकालने में इससे परेशानी होती है। लेकिन उनका मानना है कि सभी उपन्यास इस कसौटी पर खरे उतरने के लिए क्यों विवश हों। इस उपन्यास की रचना मानवीय सरोकार को लेकर की गई। इस तरह के उपन्यासों में चरित्र और प्रसंग बहुतायत मात्रा में होते हैं और सब मिलकर उस विशेष अंचल को उसकी जातीय विशेषताओं के साथ जीवंत करते हैं। ऐसा संभव करने के लिए भाषा की योजना अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। आगे चलकर लेख में उन्होंने 'ज़िन्दगीनामा' की भाषा पर भी विस्तार से चर्चा की है। इसी क्रम में अगला आलेख परमानंद श्रीवास्तव जी का है। उनका आलेख 'आंचलिक उपन्यास और जीवन मर्म' है। लेखक ने इस आलेख में आंचलिक उपन्यास के रूप में 'ज़िन्दगीनामा' का मूल्यांकन किया है। इसके अंतर्गत उन्होंने उपन्यास में भाषायी विन्यास, वाक्य-लय, कथा आदि पर चर्चा की है। 'ज़िन्दगीनामा' में पंजाब के एक विशेष अंचल की संस्कृति और मानवीय संबंधों का सजीव अंकन दृष्टिगत होता है। इस अंचल की कथा में शाह-परिवार को अधिक महत्व दिया गया है। लेखक का मानना है कि कृष्णा सोबती के इस उपन्यास में उस अंचल की भाषा बोली और मुहावरों आदि में स्त्री-सुलभ संवेदना अन्तर्निहित है, यह विशिष्टता उपन्यास की सार्थकता और उसका महत्व भी है। इसी क्रम में अंतिम आलेख विजयमोहन सिंह का है। विजय मोहन जी 'ज़िन्दगीनामा' को एक विशाल सामाजिक उपन्यास मानते हैं। उन्होंने आलेख में उपन्यास के कथानक के संदर्भ में कुछ बुनियादी प्रश्नों पर चर्चा की है। इस चर्चा से आप 'ज़िन्दगीनामा' के कुछ विशिष्ट पहलुओं से परिचित हो सकेंगे। लेखक 'ज़िन्दगीनामा' को स्मृतियों में उभर आने वाले अतीत के चलचित्रों का समूह मानते हैं जहाँ व्यक्ति और उस विशिष्ट परिवेश में घटित घटनाएँ हैं लेकिन उनके बीच तारतम्य नहीं है। उनके अनुसार इस उपन्यास के व्यक्तियों और परिवेश में एक विरल संयोजन है।

संग्रह के अगले पाँच आलेख धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' से संबंधित हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में लेखक ने कहानी की विलक्षण तकनीक का उपयोग किया है लेकिन साथ ही कहानी के परंपरागत ढाँचे या तकनीक पर व्यंग्य भी किया है। आश्चर्यजनक बात यह है कि तकनीक पर व्यंग्य करने

वाले भारती जी ने स्वयं ऐसे तकनीकी प्रयोग किए हैं कि गहन जीवनानुभव बहुत छोटे से फलक पर दृष्टिगत होते हैं। इस उपन्यास से संबद्ध आलेखों के क्रम में पहला आलेख अज्ञेय जी का 'जीवन के प्रति अडिग आस्था' है। इस आलेख में उन्होंने उपन्यास पर उसके गठन और भारती की विशिष्ट प्रतिभा की छाप की दृष्टि से विचार किया है। वे उपन्यास को एक पूरे समाज का चित्र मानते हैं जो तीन आयामी है। उन्होंने प्रस्तावित किया है कि जीवन के प्रति अडिग आस्था ही 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' है। इसी क्रम में दूसरा आलेख गिरिजाकुमार माथुर का है। उन्होंने 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को एक नवीन कथा-प्रयोग माना है। उनके अनुसार इस उपन्यास में तीन कथावृत्त हैं। इसका उन्होंने उदाहरण सहित निरूपण भी किया है। तीसरा कथावृत्त उनके अनुसार 'मैं' का है, और वे आलेख के अन्त में कामना करते हैं कि मैं 'हम' में परिवर्तित हो जाए। अगला आलेख देवेन्द्र इस्सर का है। उन्होंने उपन्यास के कुछ विशेष पक्षों पर हमारा ध्यानाकर्षण किया है। उनका कहना है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' हमें याद दिलाता है कि अतीत की यादों, वर्तमान के चिन्तन और भविष्य के सपने जब तक मनुष्य के पास हैं, तब तक दुनिया का वजूद है। आलेख में आगे चलकर उन्होंने उपन्यास के यथार्थ (रियेलिटी) तथा उपन्यास में दिए गए स्वप्नों पर भी चर्चा की है। इस क्रम में अगला आलेख रणधीर सिन्हा का है। उन्होंने उपन्यास की विषयवस्तु पर विचार किया है। उनका मानना है कि उपन्यास के प्रारंभ से अंत तक प्रेम की चर्चा है। उन्होंने विषयवस्तु के साथ ही उपन्यास के शिल्प पर भी विचार किया है। वे उपन्यास के शिल्प को इतना प्रबल मानते हैं कि उनके अनुसार इसे शिल्प प्रधान उपन्यास कहा जा सकता है। इस क्रम में अन्तिम आलेख राजकुमार गौतम का है। वे इस उपन्यास की प्रासंगिकता को आज भी स्वीकार करते हैं। उनका मानना है कि 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आज भी निम्न-मध्यवर्ग के अच्छे भविष्य के प्रति विश्वास और आस्था का प्रतीक है। इन आलेखों का अध्ययन करते समय आप देखेंगे कि इन आलेखों में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' की व्याख्या लेखकों ने अपनी-अपनी दृष्टि से की है।

पुस्तक के अंतिम तीन आलेख 'रागदरबारी' से संबंधित हैं। 'रागदरबारी' श्रीलाल शुक्ल का व्यंग्य-उपन्यास है। इस उपन्यास पर आधारित आलेखों के क्रम में पहला आलेख 'रागदरबारी' व्यंग्य दृष्टि या व्यंग्य लीला' है। इस आलेख में लेखक ने उपन्यास की विषयवस्तु पर विस्तार से चर्चा की है। लेखक के अनुसार इस उपन्यास में वर्णनों की बहुतायत है। इन वर्णनों के आधिक्य के कारण उपन्यास के अर्थग्रहण

NMDC-088

में क्या असर पड़ता है, इनकी पड़ताल भी आलेख में की गई है। अगला आलेख वीरेन्द्र यादव का है। यादव जी ने 'राग दरबारी' को उस नकारवादी मुहावरे की रचना माना है जो हमारे समाज की विद्रूपताओं का परिणाम है। उनके अनुसार उपन्यास में छुद्र की सामाजिक पड़ताल के तहत तंत्र की विकृतियों का निदर्शन किया गया है। इस विवेचन में वे राजनीति के स्तर पर तथा साहित्य के स्तर पर नकारवाद के कुछ प्रमुख प्रवक्ताओं की तुलना भी श्रीलाल शुक्ल से करते हैं। आलेख में आगे चलकर उन्होंने 'रागदरबारी' के हास्य-व्यंग्य, भाषा आदि पर भी विचार किया है। इस उपन्यास पर विचार करने के साथ-साथ वीरेन्द्र जी ने श्रीलाल शुक्ल के दो अन्य उपन्यासों — 'पहला पड़ाव' तथा 'विश्रामपुर का संत' पर भी चर्चा की है। इस प्रक्रिया में वे 'राग दरबारी' से उनकी तुलना भी करते चलते हैं। यह विवेचन श्रीलाल शुक्ल की लेखकीय दृष्टि से आपको परिचित कराएगा। संग्रह का अन्तिम आलेख नेमिचन्द जैन का है। शिक्षा, राजनीति, रिश्वत, अपराध, नशाखोरी, न्याय व्यवस्था आदि रागदरबारी के प्रमुख विषय हैं। नेमिचन्द जी मानते हैं कि आज का परिचित समाज और परिवेश इस उपन्यास में उपस्थित है। लेकिन वे उपन्यास की व्यंग्य-शैली को 'रेखाचित्रों' या 'बैठे-ठाले' जैसे पत्रकारीय स्तम्भों के लिए ही ठीक समझते हैं। इसके साथ ही उन्होंने आगे चलकर उपन्यास के व्यंग्य, भाषा और शीर्षक की सार्थकता पर विचार किया है। इन आलेखों के माध्यम से आप 'रागदरबारी' पर विविध आलोचकों की दृष्टियों से परिचित हो सकेंगे।

यद्यपि इस पाठ्यक्रम में पढ़ाए जा रहे उपन्यासों के विषयों से संबंधित उत्कृष्ट आलेख और भी हैं परन्तु स्थान की सीमा के कारण अधिक आलखों को संग्रहीत करना हमारे लिए सम्भव नहीं हैं। हमारी आपसे अपेक्षा है कि आप पाठ्यक्रम के खंडों के साथ ही इन आलेखों का अध्ययन करें। हमें आशा है, कि यह पुस्तक पाठ्यक्रम के विषयों को गहनता से समझने में और उन पर आलोचनात्मक दृष्टि विकसित करने में आपकी सहायक सिद्ध होगी।

शुभकामनाओं के साथ !

स्मिता चतुर्वेदी

1. बाह्य का विस्तार : 'झूठा सच'

नेमिचन्द्र जैन

काल-प्रवाह में इतिहास के कुछ क्षण ऐसे होते हैं जिनमें अचानक ही एक साथ कई युग सिमट आते हैं और जिनमें अकस्मात मन का ऐसी सर्वथा अकल्पनीय अनुभूतियों से साक्षात्कार हो जाता है जिनकी छाप परवर्ती युगों में पीढ़ियों तक बनी रह जाती है। संवेदनशील सर्जनात्मक प्रतिभा के लिए ऐसे युगक्षण सदा ही चुनौती बनते हैं। क्योंकि एक ओर तो उन क्षणों में उसे मानव-चेतना के ऐसे रूप दिखायी पड़ जाते हैं जो साधारणतया सुलभ नहीं, और इसलिए उन्हें किसी कलात्मक रूप में लिपिबद्ध करने का बड़ा तीव्र आकर्षण होता है; दूसरी ओर ऐसे क्षणों में एक साथ ही इतना कुछ पुंजीभूत और केन्द्रित होकर घटित होता है कि उसमें से सार्थक और निरर्थक का चयन असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य हो जाता है। इसके अतिरिक्त ऐसे समय घटनाओं, भावों, विचारों अनुभूतियों की गति में इतनी तीव्रता रहती है कि उन्हें किसी परिप्रेक्ष्य में, किसी विवेकपूर्ण क्रम में रखना दुष्कर होता है। फलस्वरूप ऐसे क्षणों को अपनी विषयवस्तु बनाने वाली कृतियाँ प्रायः तथ्यों के ढेर से अपनी निजी सत्ता खो बैठती हैं, और मानवीय दस्तावेज के बजाय सूचना-संग्रह मात्र रह जाती हैं। इसलिए किसी समुदाय, देश या समाज के जीवन में आनेवाले ऐसे उपप्लावन उनके प्रति संवेदनशील कलाकार के मन में अनिवार्य रूप से अन्तर्द्वन्द्व और कभी-कभी अन्तर्विरोध की सृष्टि करते हैं: वह बहुत आकर्षित होते हुए भी उनको अपनी रचना की विषयवस्तु नहीं बना पाता; या बना डालता है, पर फिर अपने प्रयास में सफल या उससे सन्तुष्ट नहीं हो पाता। स्वाधीनता के बाद देश के विभाजन को लेकर लिखा गया यशपाल का वृहद उपन्यास 'झूठा सच' ऐसे अन्तर्द्वन्द्व या अन्तर्विरोध का बड़ा महत्वपूर्ण उदाहरण है।

'झूठा सच' अपने दो खण्डों में 1942 से 1947 तक के कालखण्ड को घेरता है यद्यपि उसमें विस्तृत चित्रण 1646-48 के काल का ही है। इस प्रकार वह देश के विभाजन की पूर्ववर्ती पृष्ठभूमि, उसकी यथार्थ प्रक्रिया तथा परवर्ती परिणति, सभी को प्रस्तुत करता है। इसके लिए लेखक ने लाहौर में भोला पांधे की गली में रहने वाले निम्न मध्यवर्गीय परिवारों और उनके विभिन्न सदस्यों के बाह्य जीवन, पारस्परिक व्यवहार और व्यक्तिगत आचरण, सामूहिक तथा वैयक्तिक संस्कार, चेतना और मान्यताओं को विभाजन के सन्दर्भ में – उससे पहले, दौरान तथा बाद

NMDC-088

में – देखा हैं, और फलस्वरूप होने वाले परिवर्तन या रूपान्तरण को दिखाने का प्रयास किया है। भोला पांधे की यह गली जैसे एक समूचे समाज की प्रतीक है और लेखक ने उसके जीवन्त सामूहिक व्यक्तित्व को रूपायित करने में बड़ा सचेष्ट परिश्रम किया है। लाहौर के अन्य भाग भी इस गली की तुलना में, समानता में, भिन्नता में विसदृशता और पारस्परिक सम्बन्ध में ही उभरते हैं। स्वयं गली में रहने वाले व्यक्तियों का बाह्य और आन्तरिक जीवन भी गली के इस सामूहिक व्यक्तित्व के परिप्रेक्ष्य और सम्बन्ध में ही देखा और अंकित किया गया है जो उन व्यक्तियों को एक मूर्त और ठोस आधार प्रदान करता है, उन्हें उनके परिवेश और उनके विभिन्न सम्बन्ध-सूत्रों के संदर्भ में देखने-परखने में सहायक होता है।

प्रारम्भ में देश के सभी भागों की भाँति लाहौर और इस गली के जीवन में भी एक प्रकार की परम्परागत स्थिरता, आबद्धता और जड़ता ही दिखायी पड़ती है, यद्यपि नये ज़माने का प्रभाव भी धीरे-धीरे छनकर आता जाता है। किन्तु दूसरे महायुद्ध के बाद अचानक देश की राजनीतिक परिस्थितियों में तेज़ी से परिवर्तन होने के कारण, यह स्थिरता टूट जाती है, जीवन की गति की तीव्रता बढ़ जाती है, और सम्पूर्ण सामुदायिक और वैयक्तिक जीवन में भयंकर उथल-पुथल मच उठती है। सदियों की स्वीकृत स्थापित परिस्थितियाँ, पद्धतियाँ, मान्यताएँ चूर-चूर होने लगती हैं, और हर व्यक्ति अपने मूल केन्द्र से उखड़कर इस प्रकार दिशाहीन हो जाता है जैसे किसी सर्वग्रासी तूफान में उड़ता हुआ निरीह पत्ता हो। अन्त में जब तूफान का वेग कुछ कम होता है, तो पता चलता है कि इनमें से अधिकांश वृन्तच्युत, निस्सहाय पत्ते अपने मूलस्थान से दूर पहुँचकर इधर-उधर बिखर गये हैं, और ज़िन्दगी का एक नया अध्याय शुरू हो रहा है। यह दूसरा स्थान है दिल्ली, भोला पांधे की गली से हर सम्भव अर्थ में भिन्न, जहाँ उस गली के प्रायः सभी सदस्य और उनसे जुड़े हुए अन्य व्यक्ति अपने जीवन का नया आधार, नया अर्थ, नया भविष्य खोजने और रचने के लिए प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। 'झूठा सच' एक भयंकर विस्फोट के फलस्वरूप एक छोटी-सी गली से बढ़कर महानगर बन जाने की तीखी यातना-भरी यात्रा की कथा है।

निस्सन्देह इतिहास के ऐसे विस्फोटक क्षण को अपने सर्जनात्मक कार्य की विषयवस्तु बनाकर लेखक ने उस चुनौती को पूरी तरह स्वीकार किया है जिसका प्रारम्भ में उल्लेख हुआ था। कई दृष्टियों से इस कार्य के लिए यशपाल हिन्दी में सबसे सक्षम, उपयुक्त और सुराज्जित कथाकार हैं : उनके पास व्यापक जीवन की गति को

NMDC-088

समझने के लिए उपयुक्त ऐतिहासिक दृष्टि है; उनका ज़िन्दगी के विभिन्न पक्षों का अवलोकन-निरीक्षण विस्तृत और समृद्ध है; उनमें विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक शक्तियों और प्रभावों को अलग-अलग, एक साथ और उनके पारस्परिक सम्बन्धों में, देखने की रुचि भी है, प्रवृत्ति भी; उनके भीतर का सजग प्रखर व्यंग्यकार उन्हें कभी किसी स्थिति के साथ सर्वथा एकाकार हो जाने से बचाये रखता है और बहुत संकीर्ण अर्थ में पक्षधर नहीं होने देता; उनमें एक प्रकार की मूर्तिभंजकता और साहसिकता है जिसके कारण वह बड़ी-से-बड़ी प्रतिमा को भी खण्डित करने में नहीं झिझकते; उनकी सहानुभूति, विशेषकर, पीड़ित-दलित, लांछित-प्रताड़ित जन-समुदाय से, बड़ी सहज और व्यापक है। 'झूठा सच' में यशपाल अपनी इन क्षमताओं का भरपूर उपयोग करते हैं। विभाजन-जैसी सर्वग्राही घटना को उन्होंने उसकी आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और वैयक्तिक समग्रता में, साथ ही उसकी गतिमानता में, देखने का प्रयास किया है। इस राजनीतिक घटना की जड़ों को देखने-समझने के लिए लेखक ने पहले खण्ड में साम्प्रदायिकता के विष के बढ़ने की विभिन्न अवस्थाओं का, उसके विभिन्न सामाजिक-राजनीतिक-वैयक्तिक स्तरों का, उसके बारे में विभिन्न प्रतिक्रियाओं तथा उसके विभिन्न स्थूल-सूक्ष्म रूपों और स्थितियों का, प्रस्तुतीकरण किया है। उसने न तो साम्प्रदायिकता के आर्थिक-राजनीतिक पक्ष से बचने की कोशिश की है, न धार्मिक पक्ष से। इस भाँति विभाजन की पृष्ठभूमि को, विशेषकर उसके सामाजिक पक्ष को, वह बड़ी विशदता से उपन्यास में प्रस्तुत कर सका है।

एक प्रकार से यह विशदता, जीवन की विविधता, ही यशपाल के कथा साहित्य की महत्त्वपूर्ण और सर्वप्रमुख उपलब्धि है। इस अर्थ में कहा जा सकता है कि मानव-स्वभाव के अनगिनती रूपों के दर्शन उनके इस उपन्यास में होते हैं, विशेषकर जीवन की सामाजिक और राजनीतिक परिस्थितियों को बड़े विस्तार से अंकित किया गया है– पहले खण्ड में भोला पांधे की गली और सारे लाहौर की राजनीतिक-सामाजिक ज़िन्दगी का, तथा विभाजन के साथ ही उसके टूटने, बिखरने और चूर-चूर हो जाने का; और दूसरे खण्ड में, विभाजन के तुरन्त बाद से अगले आठ-दस वर्ष तक, दिल्ली के अस्त-व्यस्त, केंन्द्र-विच्युत, जनाकीर्ण जीवन का। यह वर्णन इतना अधिक 'यथार्थ' और 'प्रामाणिक' है कि एक पूरे युग का विवरण मिल जाता है, जैसे बड़ी ही सावधानी और सिद्धहस्त निपुणता से अखबारों की अनगिनती कतरनें एक विशेष क्रम में सँजो दी गयी हों। निस्सन्देह पहले

NMDC-088

खण्ड के इन जीवन-चित्रों में मार्मिकता, स्वाभाविकता अधिक है, जीवन का सहज रस अधिक प्रवाहित जान पड़ता है; स्थान-स्थान पर ऐसी कचोट और व्यथा भी है जिसे एक कलाकार ही देख और उजागर कर सकता है। दूसरे खण्ड में घटनाओं की उग्रता, पाशविकता और अकल्पनीय तीव्रता अधिक उभरकर सामने आयी है, कथा और प्रसंगों के अनगिनती सूत्र उलझे दीख पड़ते हैं जिनमें गहनता तो नहीं पर फैलाव अवश्य ही बहुत है, चाहे वह फैलाव भी विशृंखल ही हो, किसी सम्पूर्णता को स्थापित न कर पाता हो। 'झूठा सच' में यशपाल की क्षमता की बहुत-सी विशेषताओं से – कहानी गढ़ने और कहने की सामर्थ्य, एक विशेष प्रकार की रोचकता और उसकी चसक, विषमता और पाखण्ड के ऊपर चुभते हुए तीखे पैने व्यंग्य, राजनीतिक आन्दोलनों को सामाजिक यथार्थ के अन्य पक्षों के साथ समेटते चलने के कौशल, आदि से – एक नये रूप में साक्षात्कार होता है। और ये सब विशेषताएँ किसी हद तक इसको हिन्दी-उपन्यास में एक ख़ास दर्जा भी देती हैं।

लेखक ने अपने इस उपन्यास को 'झूठा सच' कहा है। एक तो इसलिए कि तारा का सोमराज की पत्नी होना सच होकर भी सच नहीं है। विवाह की पहली ही रात को सोमराज द्वारा वह अपमानित तथा पीड़ित-प्रताड़ित ही होती है, स्थूल अर्थ में भी उसकी पत्नी नहीं बनती। और उसके बाद तो गली में दंगा होने के कारण वह मकान से कूदकर भाग निकलती है और फिर उस तूफ़ान में पड़कर बहुत-कुछ सहती-भोगती दिल्ली पहुँचकर अन्त में नये सिरे से अपने जीवन को गढ़ती है। किन्तु सोमराज से औपचारिक विवाह एक बार फिर उसके अपमान और पराजय और आघात का कारण बनने को है कि वह उस 'झूठे' सच से किसी प्रकार मुक्ति पा जाती है। नैयर कहता है, "घटना तो झूठ-सच नहीं होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन में होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होती है।''

यह उद्धरण एक प्रकार से यशपाल की विशेष कला-दृष्टि को सूचित करता है — सत्य को 'जमाना' या उसको बल देने के लिए 'साक्षी' जुटाना। इस कथन में ही दृष्टि के उस सरलीकरण के बीज हैं जो यशपाल को सत्य की जटिलता को देखने से रोकता है, जो उनके 'सच' को अन्ततः सीमित, एकांगी, जमाया हुआ, दूसरे शब्दों में बहुत-कुछ 'झूठा' बना देता है। वह जिस खण्ड-सत्य को सम्पूर्ण

NMDC-088

सत्य मान लेते हैं, उसे 'जमाने' में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ते और इस प्रक्रिया में उसे अधिकाधिक आंशिक बनाते जाते हैं। इस प्रक्रिया के फलस्वरूप एक प्रकार का आवेश उनके लेखन में अवश्य आता है, एक प्रकार की भाव-ऊष्मा, जो उनका विशेष रंग है पर रचना की शक्ति, उसकी निर्मम, निरपेक्ष अनिवार्यता नष्ट नहीं तो शिथिल अवश्य हो जाती है।

इस उपन्यास में भी उन्होंने अपने सच को जमाने का भरसक प्रयत्न किया है। तारा के सोमराज से स्वतन्त्र व्यक्तित्व को स्थापित करने के लिए अनगिनती स्थितियाँ, घटनाएँ जुटायी गयी हैं। इसीलिए अन्ततः तारा की कहानी भी यशपाल के एक अन्य उपन्यास 'मनुष्य के रूप' की सोमा की कहानी की भाँति, एक सफलता-कथा बनकर रह गयी है। तरह-तरह की परिस्थितियों और लांछनाओं को पार करती हुई तारा एक ओर सफलतापूर्वक भारत सरकार में अण्डर-सेक्रेटरी बन जाती है और दूसरी ओर उसे डॉक्टर प्राणनाथ का सर्वथा निस्वार्थ एकान्त प्रेम भी प्राप्त हो जाता है। इसके सम्पूर्ण प्रतिफलन में भी दो बाधाएँ आती हैं। एक तो यह कि लाहौर से दिल्ली तक की अपनी पीड़ाभरी यात्रा में एक मुसलमान द्वारा बलात्कार के फलस्वरूप उसे एक जघन्य यौन-व्याधि लग गयी है और वह इस कारण अपने को इस योग्य नहीं समझती कि डॉक्टर नाथ से विवाह की कल्पना भी करे। दूसरी ओर इसका इलाज भी कैसे हो? इसमें तो अपवाद का भय है। इसका हल यह निकलता है कि डॉक्टर नाथ सहर्ष उससे विवाह करके उसे विदेश ले जाते हैं और वहाँ सफलतापूर्वक इस व्याधि से मुक्ति पाकर दोनों स्वदेश लौट आते हैं। दूसरी बाधा यह उत्पन्न होती है कि तारा के भाई जयदेव पुरी के उकसावे और सहयोग से सोमराज तारा पर अपनी पत्नी होने का दावा करता है। फलस्वरूप सरकारी कर्मचारी होकर भी ऐसा अनैतिक कार्य करने के लिए डॉक्टर नाथ और तारा के आचरण की जाँच होने लगती है और यह आशंका होती है कि दोनों को सरकारी नौकरी से हाथ न धोना पड़े। पर उपन्यास के अन्त में तारा और डॉक्टर नाथ भी 'एक्जानेरेट' (दोषमुक्त) हो जाते हैं और कोई कठिनाई नहीं बचती। जितने दुष्ट लोग हैं उन सबको अपने किये का फल मिलता है, और भले लोगों पर आयी हुई विपता का आखिरकार अन्त होता है। केवल इस एक वाक्य की ही कसर है कि 'जैसे इनके दिन फिरे सबके फिरें।' अन्त की यह अतिनाटकीय सुखदता गहन जीवनदृष्टि के अभाव अथवा उसके अत्यन्त सरलीकरण की जिस प्रवृत्ति की सूचक है, वह लेखक यशपाल के गौरव को बढ़ाती नहीं है।

NMDC-088

किन्तु एक और अर्थ में भी लेखक ने अपनी इस कथा को 'झूठा सच' माना है। उपन्यास के समर्पण में लेखक ने कहा है: "सच को कल्पना से रंग-कर उसी जन-समुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता।" वास्तव में उसने उपन्यास के अनगिनती इन्सानों की पीड़ा-यात्रा को जीवन की एक निर्मम क्रूर नियति के बजाय, स्वार्थी लोगों द्वारा जनसाधारण को झूठ से ठगने और जनसाधारण द्वारा इन स्वार्थियों को परास्त करके अपना भाग्य अपने हाथ में ले लेने के दोहरे संघर्ष के रूप में देखा है। दूसरे खण्ड का, बल्कि पूरे उपन्यास का अन्त डॉक्टर प्राणनाथ के इन शब्दों से होता है: "गिल, अब तो विश्वास करोगे, जनता निर्जीव नहीं है। जनता सदा मूक भी नहीं रहती। 'देश का भविष्य' नेताओं और मन्त्रियों की मुट्ठी में नहीं है, देश की जनता के ही हाथ में है।"

काश, यह बात सच होती! उपन्यास का समर्पण और उसका यह अन्त लेखक की रचना-दृष्टि में उद्देश्यपरकता को तो सूचित करता ही है, साथ ही उसके दृष्टिकोण में अत्यधिक सरलीकरण और इच्छित चिन्तन की उस प्रवृत्ति को भी दृढ़ करता है जिसका पहले उल्लेख हुआ। आधुनिक भारतीय इतिहास की इस सबसे अधिक विस्फोटक घटना को विभिन्न राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक शक्तियों के संघात की परिणति के रूप में देखने के प्रयास में वह उन्हीं को पूर्णत: नियामक मानने लगता है, बल्कि कभी-कभी तो वह केवल उन्हीं को देखता जान पड़ता है, जैसे उनके आवर्त में फँसे इन्सान उदाहरण मात्र हों। दूसरे, इन शक्तियों को पहचानने की कोशिश में उसे ज़िन्दगी का बाह्य रूप ही अधिक दीख पड़ता है, उसकी पीड़ा की गहराई नहीं। और तीसरे, वह इस सबका एक सरल हल पाने के लिए बहुत ही उत्सुक-लालायित है, जो वह 'जनता' के एक प्रकार के रोमैंटिक गौरवान्वयन के रूप में प्राप्त करता है। उपन्यासकार यशपाल की यह सबसे बड़ी दुर्बलता है कि वह अपने पूर्व-चिन्तित और सरलीकृत निष्कर्षों से अपने जीवन के दर्शन को, पर्यवेक्षण को प्रभावित हो जाने देते हैं। उनकी राजनीतिक-सामाजिक मान्यताएँ उनकी दृष्टि को प्रभावित करती हैं – उसे कम-से-कम गहराई के आयाम में सीमित भी बनाती है, धुँधली भी, और सतही भी।

इस प्रवृत्ति की एक अन्य दिलचस्प अभिव्यक्ति है राजनीतिक प्रश्नों का बड़ा सतही प्रकार का विवेचन। जैसे, यशपाल गाँधी और गाँधीवाद से बड़े अप्रसन्न हैं, कुछ बड़े ही भावुकतापूर्ण यान्त्रिक तथा स्थूल ढंग से। उनकी पुस्तक 'गाँधीवाद की

NMDC-088

शवपरीक्षा' राजनीति पर सरलीकृत, किशोरसुलभ और तथाकथित 'उग्र' चिन्तन-विवेचन का बड़ा उल्लेखनीय उदाहरण है। गाँधीवाद के सम्बन्ध में उनका यह पूर्वाग्रह 'झूठा सच' में भी दिखायी पड़ता है। जगह-जगह आवश्यक-अनावश्यक रूप में गाँधी और गाँधी के सिद्धान्तों पर छींटाकशी है, अहिंसा के सिद्धान्तों की खिल्ली उड़ायी गयी है। स्वाधीनता-आन्दोलन में और उसके बाद गाँधीजी के विभिन्न कार्यों और उनके सिद्धान्तों को कहीं तीखे और कहीं निहित व्यंग्य से प्रस्तुत किया गया है। विभाजन के बाद दिल्ली में मुसलमानों की रक्षा को लेकर गाँधीजी के अनशन के प्रसंग का कुछ ऐसे ढंग से वर्णन किया गया है, जैसे वह सब निरा ढोंग और पाखण्ड हो। इसी प्रकार कांग्रेस सरकार और जवाहरलाल नेहरू की भी बड़े हलके सतही ढंग की आलोचना है। सामान्यत: पूरे उपन्यास में राजनीतिक प्रश्नों पर यशपाल का मतामत मोटे तौर पर कम्युनिस्ट पार्टी के विचारों का समर्थक है; विभाजन से पहले और बाद में विभिन्न राजनीतिक स्थितियों और शक्तियों के सन्तुलन को प्राय: उसी रूप में प्रस्तुत किया गया है जिस प्रकार कम्युनिस्ट पार्टी करती थी, यद्यपि कुछेक प्रश्नों पर कम्युनिस्टों से भिन्न विचार भी उन्होंने रखे हैं। सामान्यत: व्यक्तियों के चरित्रांकन में भी कम्युनिस्टों के प्रति एक प्रकार का हलका-सा पक्षपात जैसा उपन्यास में महसूस होता है। यह नहीं कि लेखक की कोई विचारधारा नहीं होनी चाहिए, पर ज़िन्दगी के प्रस्तुतीकरण में एक समर्थ लेखक अपनी वस्तुनिष्ठता को बनाये रखकर ही विचारधारा विशेष को कलात्मक रूप में स्थापित कर पाता है। कम-से-कम महान लेखक और महान कृति में यह अनिवार्य है। 'झूठा सच' इस कसौटी का हलका उतरता है, विशेषकर दूसरे खण्ड में, जहाँ मानवीय स्थितियों के प्रस्तुतीकरण की अपेक्षा बहस अधिक है। एक प्रकार की सरलीकृत, एकांगी सिद्धान्तवादिता जो जीवन से नि:सृत नहीं आरोपित अधिक जान पड़ती है, पक्षधर राजनीतिक मताग्रह लेखक की दृष्टि की निर्ममता को, प्रखरता और स्पष्टता को, कम कर देता है। फलत: मानवीय परिस्थितियों का प्रस्तुतीकरण ऊपरी लगने लगता है, प्रश्नों और स्थितियों की गहराई में जाता नहीं जान पड़ता।

दृष्टि की इसी एकांगिता का एक और भी स्तर 'झूठा सच' में है। कुल मिलाकर विभाजन की अकल्पनीय विभीषिका का मुख्य निदर्शन स्त्री के ऊपर अत्याचार के रूप में हुआ है। इस उपन्यास में स्त्री को लेकर पुरुष की विभिन्न प्रतिक्रियाओं के बेशुमार चित्र हैं। विभाजन के जो तीखे-से-तीखे परिणाम हैं वे घूम-फिर तारावंती

NMDC-088

उर्मिला, कनक तथा ऐसी ही अनगिनती स्त्रियों के भाग्य की विडम्बना पर आकर टिक जाते हैं। उनमें कई स्थलों पर निस्सन्देह बहुत करुणा है। किन्तु इस बात से बड़ी निराशा होती है कि ऐसे सर्वग्रासी संकट में भी मानव-स्वभाव की अन्य अनेक विकृतियों और सुन्दरताओं के प्रति लेखक की दृष्टि बहुत ही कम गयी है। विभाजन के फलस्वरूप अनगिनती स्त्रियों पर नाना प्रकार से, नाना स्थितियों में, तरह-तरह से लोगों द्वारा बलात्कार ही केवल नहीं हुआ, जीवन के अन्य बहुत-से मूल्य नष्ट-भ्रष्ट हो गये, युगों की संचित पोषित मान्यताएँ ढह गयीं अन्य सभी विविध वैयक्तिक-सामाजिक सम्बन्ध ध्वस्त हो गये, विषाक्त हो गये, संस्कारों के आधार बदल गये, जीवन से अपेक्षाएँ बदल गयीं, पूरे मानवीय आचरण का स्वरूप बदल गया। विभाजन के बाद का भारतीय जीवन, विशेषकर उत्तर भारत में और दिल्ली में किसी भी रूप में ठीक पहले जैसा ही नहीं रह सका। वह सदा के लिए एकदम भिन्न हो गया। पर यशपाल की दृष्टि जीवन के अन्य पक्षों पर इतनी नहीं जाती जितनी स्त्री के शोषण, पीड़न और अपमान पर, उसके साथ अत्याचार और पाशविक व्यवहार पर। यह अकारण ही नहीं कि उपन्यास की मुख्य पात्र एक स्त्री है, तारा। पूरे उपन्यास में स्त्री-सम्बन्धी विचारों की भरमार है, स्वयं स्त्री के, तथा उससे सम्बन्धित पुरुषों के, विभिन्न आचरणों की अनगिनती छायाएँ प्रस्तुत की गयी हैं। और स्त्री के प्रति यह असन्तुलित दृष्टि भी बड़ी स्थूल है, शरीर और सेक्स के स्तर पर ही अधिक है। यशपाल के सभी उपन्यासों में सेक्स के प्रति एक प्रकार का असन्तुलित विकृत दृष्टिकोण उनके कृतित्व के स्तर को नीचे गिराता रहा है। यहाँ भी वह नारी के शरीर और उसके साथ यौन-सम्बन्धों को लेकर पुरुषों की विभिन्न प्रतिक्रियाओं पर अधिक बल देते हैं। एक जगह तारा के विषय में लेखक ने कहा है: 'उसे जान पड़ रहा था कि वह जला हुआ मकान देश-भर में नहीं, संसार-भर में नारी पर अत्याचार का प्रतीक है, इसीलिए भाग्य उसे यहाँ ले आया है। उसने ही नहीं, असंख्य नारियों ने पुरुषों की पाशविकता को सहा है। पुरुष को मनुष्य बना सकने के लिए स्त्री को कितना सहना पड़ेगा?'' और यह एक स्थान पर नहीं, पूरे उपन्यास की रचना में ध्वनित है। अपने को मार्क्सवादी कहने वाले लेखक के लिए यह सचमुच आश्चर्य की बात है कि स्त्री के ऊपर बलात्कार से बड़ी बर्बरता और मूल्यहीनता की वह कल्पना नहीं कर पाता।

यही कारण है कि पूरे उपन्यास में जीवन की भव्यता, उदात्तता और सुन्दरता के प्रति सजगता का ऐसा अभाव है। लेखक का दृष्टिकोण सीमित ही नहीं, अत्यधिक

NMDC-088

नकारात्मक है, अभावात्मक है। उसमें व्यंग्य और तीखापन तो है, पर वह ऐसे संसार का चित्र है जो ज़िन्दा रहने के लिए प्रेरित करता नहीं जान पड़ता। यशपाल ब्यौरे में, घटनाओं में, जानकारी के प्रदर्शन में, उलझे रह जाते हैं, जीवन की गहनता में प्रवेश नहीं कर पाते। क्योंकि उसके लिए सचमुच अधिक संवेदनशील, सूक्ष्म और सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि चाहिए। यशपाल की कला का यह एक दिलचस्प विरोधाभास है कि कलाकार में 'जीवन-दृष्टि' पर सबसे अधिक आग्रह करने वाले लेखक में जीवन-दृष्टि का अभाव ही सबसे अधिक खटकता है।

'झूठा सच' के मानवीय तत्व पर विचार करने पर यह सरलीकरण एक और स्थिति को प्रकट करता है। उसमें इन्सान के अनगिनती रूप अवश्य हैं, पर वे अधिकांश ही बाहरी हैं। यशपाल अपने स्वभाव से ही व्यक्ति के आन्तरिक जीवन और उसके द्वन्द्व को कम देख पाते हैं। स्थूल आचरण के स्तर पर होने वाला मानसिक संघर्ष 'झूठा सच' में कम नहीं है। पर उससे भी गहरे जाकर व्यक्तित्व के मूल केन्द्र को झकझोरने वाला संघर्ष इतने बड़े उपन्यास में नहीं के बराबर है। यह खतरा विभाजन जैसी विस्फोटक घटना को विषयवस्तु बनाने के कारण हर उपन्यास के लिए रहेगा। किन्तु यशपाल का कलात्मक दृष्टिकोण उसको और भी अनिवार्य बना देता है। वह स्थिति के अन्तर्विरोध को कम देख पाते हैं, और देख भी पाएँ तो उसका गतिमान चित्रण नहीं हो पाता। उनके भीतर बैठा समाजशास्त्री, राजनीतिक, सामाजिक सिद्धान्तकार विरोधी स्थिति के किसी-न-किसी एक पक्ष को तुरन्त अपना समर्थन प्रदान कर देता है, जिससे स्थिति की द्वन्द्वात्मकता नष्ट हो जाती है, और हर अन्तर्विरोध का किसी-न-किसी इच्छित तीसरी स्थिति में पर्यवसान सहज हो जाता है।

इस प्रवृत्ति का सबसे सरल यद्यपि सबसे सफल रूप उपन्यास के केन्द्रीय व्यक्तित्व तारा में दीख पड़ता है। वह प्रारम्भ से ही संवेदनशील, पढ़ने-लिखने में तेज़, महत्त्वाकांक्षिणी लड़की है; शुरू से ही उसे राजनीति में दिलचस्पी है। प्रारम्भ में उसके व्यक्तित्व को लेखक ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि एक निम्न मध्यवर्गीय लड़की के क्रमशः जाग्रत और आत्मसजग होने का प्रभाव संप्रेषित होता है। यह प्रभाव भी मुख्यतः बाह्य घटनाओं और परिस्थितियों के माध्यम से ही है। उसके और प्राण के बीच एक हलके-से सूत्र की स्थापना भी लेखक प्रारम्भ में ही कर देता है, बल्कि पहले खण्ड के पृष्ठ ८० पर तारा और प्राण के बीच सेक्स को लेकर भी कुछ चर्चा हो जाती है। किन्तु उसके प्रारम्भिक जीवन का सबसे रोचक और

NMDC-088

नियामक प्रसंग है कम्युनिस्ट कार्यकर्त्ता असद से उसका कोमल किशोरसुलभ स्नेह-सम्बन्ध। उसको लेखक ने सम्भवत: सबसे अधिक संवेदनशीलता और सूक्ष्मता के साथ, भावनात्मकता के साथ, प्रस्तुत किया है। इस प्रसंग की हल्की-सी मिठास में भावुकता या स्थूलता का अभाव है, यद्यपि समूची स्थिति कम्युनिस्ट पार्टी में हिन्दू-मुस्लिम-समानता तथा अन्य सैद्धान्तिक-राजनीतिक दृष्टियों से भी परिकल्पित लगती है। तारा एक साथ ही विभिन्न स्तरों पर आस-पास के सभी व्यक्तियों से भिन्न है – शीलो और रतन से, जयदेव से, कनक से। अन्य महत्वपूर्ण पात्रों से उसकी यह विसदृशता उसे एक व्यक्तित्व देती है, और कुल मिलाकर इस व्यक्तित्व में, कम-से-कम प्रारम्भिक अंश में, एक प्रकार की आन्तरिक संगति और विश्वसनीयता है। उपन्यास के केन्द्रीय चरित्र के रूप में उसकी विश्वसनीयता सारे उपन्यास को भी एक प्रकार की स्वाभाविकता प्रदान करती है। पर जैसा पहले कहा गया है, दूसरे खण्ड में वह क्रमश: एक सफलता-कथा की नायिका-जैसी हो जाती है, और दिल्ली में उसके अनुभवों की विविधता का विवरण रोचक अधिक है, गहरी मानवीय पीड़ा को उजागर करने वाला दस्तावेज कम। उसके जीवन का सबसे तीव्रतम सघन अनुभूति का क्षण भी पहले खण्ड में ही है – उसकी तथाकथित सुहागरात। अपनी अप्रत्याशित क्रूरता और मानव-मन के निम्नतम स्तरों के उद्घाटन के कारण यह प्रसंग उपन्यास के गहनतम आन्तरिकता वाले स्थलों में से है। इसके तथा असद के साथ प्रथम प्रेम-स्वीकार के प्रसंग के अतिरिक्त, उसका अधिकांश परवर्ती जीवन पूर्व-नियोजित और बाह्य घटनाओं का पुँज मात्र जान पड़ता है। अपने प्रति डॉक्टर प्राणनाथ के प्रेम का ज्ञान भी बड़े घरेलू साधारण स्तर पर ही रह जाता है, यद्यपि लेखक ने उसे नाटकीय बनाने का पर्याप्त यत्न किया है। कुल मिलाकर तारा आत्मसंगत और रोचक होकर भी अत्यन्त साधारण पात्र है, उसके द्वारा जीवन की ऊँचाइयों या गहराइयों का व्यंजित होना सम्भव नहीं लगता।

उपन्यास के दूसरे महत्वपूर्ण पात्र जयदेव पुरी के व्यक्तित्व में उतार-चढ़ाव और विविधता अधिक है, पर उसमें आन्तरिक संगति नहीं। वह द्विधाग्रस्त तथा अनिश्चित मन से रचा हुआ लगता है। पहले खण्ड में उसका जो रूप क्रमश: बनने लगता है, दूसरे खण्ड में वह लगभग नाटकीय ढंग से बदल-कर भिन्न हो जाता है। लगता है जैसे दूसरे खण्ड तक पहुँचते-पहुँचते लेखक ने उसके व्यक्तित्व को दूसरी ओर ले जाने का निश्चय कर डाला हो। उसका यह परिवर्तन मनोविज्ञान की दृष्टि से असम्भव न होने पर भी कलात्मक सार्थकता की दृष्टि से अस्पष्ट और अनावश्यक

NMDC-088

लगता है। शायद इस परिवर्तन की आवश्यकता उसके व्यक्तित्व की अपेक्षा कथाकार को अधिक है। जालन्धर में उर्मिला के सम्बन्ध में भी उसके भावों का आकस्मिक परिवर्तन, उर्मिला के साथ अकेले रह जाने की परिणति, सब आरोपित लगती है। कनक के प्रति उसके भावों और व्यवहार में गिरावट भी बड़ी जल्दबाजी से दिखायी गयी है। इसी प्रकार तारा के लिए उसके मन का आक्रोश बड़ी सतही मनोवैज्ञानिकता का परिणाम जान पड़ता है। जयदेव तारा से तीव्र रूप में विसदृश व्यक्ति है, पर उसमें उतनी बाह्य आत्मसंगति भी नहीं जितनी तारा में है। उसकी नीचतापूर्ण परिणति इच्छित अधिक जान पड़ती है और अन्ततः उपन्यास के पूरे बुनाव को ऊपरी, कृत्रिम और आन्तरिक बनाने में सहायक होती है।

कनक तारा और जयदेव दोनों से भिन्न है, अपने परिवेश के कारण भी और अपने मूलभूत व्यक्तित्व के कारण भी। भावुकता, कल्पनाशीलता और कोमलता के साथ-साथ उसके व्यक्तित्व में साहस, संयम और खुलेपन का ऐसा मिश्रण है जो उसे विशिष्टता देता है। पर जयदेव के प्रति उसके उत्कट अदम्य आकर्षण का केन्द्र बड़ा सतही है और अपर्याप्त भी। उसकी भावात्मक अभिव्यक्ति भी कुछ अधिक मुखर है जो कनक के व्यक्तित्व को कोई ऊँचा आयाम नहीं पाने देती। परवर्ती जीवन में वह और भी सामान्य और वैशिष्ट्यहीन हो जाती है, और अपने ढंग से जीवन के उलझते जाने पर भी उसकी कोई छाप नहीं रहती। लखनऊ में गिल के साथ उसका सम्बन्ध उसके व्यक्तित्व के कुछ सशक्त रूप में उभरने की सम्भावनाएँ प्रस्तुत करता है, पर वे भी यों ही बिखर जाती हैं, उनका पूरा उपयोग नहीं होता। अन्य पात्रों में यही बात नरोत्तम के बारे में भी सही है। डॉक्टर प्राणनाथ भी दिलचस्प तो है, पर उसमें भी कोई अन्य आयाम नहीं।

गौण पात्रों में [illegible]ता तथा शीलो और रतन में अधिक विशिष्टता है और वे अपनी छाप मन पर छोड़ते हैं। पर उपन्यास के उपबन्ध में उनका स्थान इतना प्रासंगिक है कि रचना के समग्र प्रभाव को वे नहीं बदल पाते। दृश्यपट की घोर घटनाप्रधानता और बाह्यपरकता में वे भी खो जाते हैं।

मानवीय परिदृश्य की इस अन्तहीन इतिवृत्तात्मकता के बीच वती का प्रसंग एकमात्र ऐसा स्थल है जिसकी तीव्रता और भावगहनता लगभग विस्फोटक है। वह सहज मानवीय विश्वास की गरिमा और निर्मम स्वार्थपरता की चरम क्षुद्रता के दो दूरस्थ छोरों को एक साथ स्पर्श करता है और अपनी प्रखरता से एक नया भावलोक

NMDC-088

उद्‌घाटिता कर जाता है। यदि ऐसे स्थल कुछेक भी और होते, तो उपन्यास का स्तर निस्सन्देह भिन्न हो जाता।

पर भावना का यह छिछलापन सर्जनात्मक कृति के रूप में 'झूठा सच' को किसी सार्थक स्तर तक नहीं उठने देता। इस इतिवृत्तात्मकता का एक अन्य प्रमाण है 'झूठा सच' की नितान्त वर्णनात्मक रंगहीन, सपाट, भाषा, जिसमें व्यंजनात्मकता बहुत कम है और बिम्बमयता तो नहीं के बराबर है। जो चित्र या बिम्ब हैं भी वे निहायत स्थल, फूहड़ और चालू प्रकार के हैं। पहले खण्ड के बीच में से लगभग दो-सवा दो सौ पृष्ठों में जो थोड़े-से बिम्ब आये हैं उनकी बानगी दर्शनीय है--

"कनक की अवस्था किसी मेले में मालिक से बिछुड़ गये कुत्ते जैसी हो रही थी जो जो मालिक को ढूँढने के लिए सब ओर सूँघता और भटकता फिरता है।" (पृष्ठ 167)

"उसके आँसू से भीगे चेहरे पर मुसकान आ गयी जैसे ओस से लदे फूलों पर प्रभात की किरणें पड़ जायें।" (पृष्ठ 179)

"कद-कण्ठ भी क्या है, जैसे लड़ाई के जमाने में मसाला न मिलने पर बचे-खुचे से ही बना दिया गया हो।" (पृष्ठ 291)

"छः दिन से नगर में शान्ति थी। ऐसी ही शान्ति जैसी चौक में भिड़ गये दो साँडों के लहूलुहान होकर और हाँफकर गिर जाने के बाद हो जाती है।" (पृष्ठ 305)

"छज्जों के लोहे के ढाँचे पशुओं की झुलसी हुई पसलियों और पंजरों की तरह झूलते जान पड़ते थे।" (पृष्ठ 314)

"पुरी विश्राम के लिए स्प्रिंगदार पलंग पर लगे कोमल बिस्तर पर बैठा तो एक बार उछल-सा गया। यह नया अनुभव असुविधाजनक नहीं, अपितु कुछ-कुछ अपरिचित युवा नारी के स्पर्श की भाँति लगा।" (पृष्ठ 383)

किसी उत्कृष्ट कथाकृति में इससे अधिक स्थूल, लय-संगीतहीन तथा नीरस शुष्क भाषा मिलनी कठिन है। वास्तव में यशपाल 'झूठा सच' में 'सत्य' को 'कल्पना से रँगने' के उद्योग में लगे अवश्य हैं, पर नितान्त रंगसाज के स्तर पर, रंगों की मौलिक सर्जनशील योजना के द्वारा नये जीवन के स्रष्टा कलाकार के स्तर पर नहीं।

NMDC-088

'झूठा सच' के सन्दर्भ में प्राय: ताल्सतॉय के अमर उपन्यास 'युद्ध और शान्ति' का स्मरण किया जाता है। पर दुर्भाग्यवश यह स्मरण 'झूठा सच' के लिए बहुत प्रशंसात्मक नहीं सिद्ध होता। क्योंकि इसका केवल विस्तार ही 'युद्ध और शान्ति' जैसा है। कलात्मक उपलब्धि इसकी इतनी सीमित है कि दोनों कृतियों में कोई तुलना ही नहीं हो सकती। यशपाल की कला की सीमा केवल यही नहीं है कि वह जीवन का एक छोटा, सतही टुकड़ा ही देख पाते हैं; बल्कि उससे भी अधिक इस बात में है कि वह जो कुछ देख पाते हैं वह मानवीय अनुभूति का सार्थकतम अंश नहीं होता। वह मूलत: जीवन की कुत्सा और पाशविकता के द्रष्टा हैं। निस्सन्देह उस पर वह बड़ा गहरा, तीखा और मार्मिक व्यंग्य कर सकते हैं। समाज के अमानवीय, विकृत, किन्तु ऊपर से संस्कृत और शिष्ट और स्वस्थ दिखायी पड़ने वाले, गलित अंश को उधेड़कर रखने में उन्हें बड़ा कमाल हासिल है। जीवन की कुरूपता को छिपाने वाली तड़क-भड़क को फोड़ सकने की यह क्षमता यशपाल को हिन्दी का महत्वपूर्ण कथाकार बनाती है। किन्तु अन्तत: यह शक्ति ही उनकी सबसे बड़ी सीमा भी है। जीवन के संवेदनशील, आन्तरिक गहन पक्ष में न तो यशपाल की गति है और न रुचि। वह मूलत: नकारात्मक मूल्यों के कथाकार हैं, रचनात्मक मूल्यों के नहीं। इस कारण उनके केवल वही पात्र कुछ-कुछ जीवन्त होते हैं जो या तो कटुता को सहन करते हैं या कटुता को जन्म देते हैं। वह ऐसे ही व्यक्तियों को शक्ति और तीव्रता के साथ चित्रित कर पाते हैं। पर जो पात्र जीवन की रचना में योग देते हैं, जिनके व्यक्तित्व में निर्माण की प्रतिभा है, अथवा जिनमें सुकुमारता, भावनाशीलता या संवेदनशीलता अधिक है, उनको या तो यशपाल देख-समझ ही नहीं पाते; और यदि देख भी पाते हैं तो उनका अंकन सहानुभूतिहीन, उखड़ा हुआ और यान्त्रिक हो जाता है। यशपाल इन्सान के मन की गहराई में उतरने का या तो प्रयत्न ही नहीं करते और केवल बाह्य आचरण के वर्णन द्वारा आन्तरिक जीवन को अभिव्यंजित करके सन्तुष्ट हो जाते हैं, और यदि प्रयत्न करते भी हैं, तो वह आरोपित लगने लगता है। वह ऐसा जान पड़ता है जैसे किसी पूर्व-कल्पित ढाँचे में बँधा हुआ हो। 'झूठा सच' में वास्तव में ऐसा लगता है जैसे राजनीतिक मान्यताएँ, सम्बन्ध और गतिविधियाँ अपने-आप में एक साध्य बन गयी हों, मानवीय परिस्थिति मात्र नहीं। लगता है इन्सान राजनीति का नियामक नहीं, उसका एक खिलौना मात्र है। इस प्रकार अन्तत: फिर भी प्रभाव सतह का ही पैदा होता है, गहराई का नहीं, यद्यपि इस चित्रण में सहानुभूति का, आत्मीयता का अभाव नहीं है और इसीलिए जहाँ तक जाता है, प्रामाणिक और विश्वसनीय लगता है।

NMDC-088

वास्तव में यशपाल सामाजिक सम्बन्धों और परिस्थितियों को सदा एक दर्शक की भाँति प्रस्तुत करते हैं। उनका मूल उद्देश्य होता है या तो सरस कहानी कहना या किसी राजनीतिक मान्यता को स्थापित करना। इसीलिए उनके उपन्यास पढ़कर किसी उपलब्धि का भाव नहीं होता; सम्भवत: कुछ जानकारी बढ़ जाती है और जीवन के कई नये पक्षों से परिचय हो जाता है। उनके पूर्ववर्ती उपन्यास 'मनुष्य के रूप' और 'अमिता' भी दोनों ही चरित्र या व्यक्तित्व की खोज की अपेक्षा किसी मान्यता की स्थापना से अधिक सम्बद्ध हैं।

यशपाल के कलाकार व्यक्तित्व की यह भावभूमि उनके उपन्यासों की सामर्थ्य और दुर्बलता दोनों को प्रकट करती है। उनकी रचनाओं में रोचकता पर्याप्त होती है, व्यंग्य का चुटीलापन भी कम नहीं होता, किन्तु जीवन को संस्कार देने वाली गहन मानवीय संवेदना का अभाव रहता है, मन को संस्कार देने वाली अथवा अधिक संवेदनशील और सजग बनाने वाली, विवेक को सतर्क बनाने वाली, सहानुभूति, करुणा और सौन्दर्य-दृष्टि नहीं मिलती। उनके उपन्यासों में ज़िन्दगी का अधूरा ही साक्षात्कार मिलता है। 'झूठा सच' भी इसका अपवाद नहीं। हिन्दी उपन्यास साहित्य की सबसे महत्त्वपूर्ण कृतियों में होने पर भी 'झूठा सच' अन्तत: किसी आत्यन्तिक सार्थक उपलब्धि के स्तर को छूने में असफल ही रह जाता है।

NMDC-088

2. कविदृष्टि का अभाव

कुँवरनारायण

काफ़ी पहले यशपाल का उपन्यास 'दिव्या' पढ़ा था। इस ढंग का यह पहला ऐतिहासिक उपन्यास नहीं, लेकिन ऐसे अन्य उपन्यासों की अपेक्षा यह अधिक हेतुपूर्ण और विशिष्ट लगा था। उसके बाद अरसे तक यशपाल की कृतियों से परिचय छूटा रहा। यशपाल के मार्क्सवादी पूर्वग्रहों के कारण उनकी कृतियों के प्रति शायद मन में ऐसी कुछ धारणा बन गयी थी जैसी अधिकांश मार्क्सवादी कृतियों के प्रति बनी हुई थी—कि वे भी सतही और प्रचारात्मक अधिक होंगी, गम्भीर कम। लेखक के पिछले कुछ उपन्यासों को देखते हुए शायद यह धारणा बिल्कुल निराधार भी नहीं कही जा सकती, लेकिन विशिष्टता की जो मुहर 'दिव्या' को उस ढंग के अन्य उपन्यासों से अलग करती है, वह अन्तर यशपाल के उपन्यासों तथा वैसी ही पृष्ठभूमि पर लिखे गये दूसरे उपन्यासों में भी देखा जा सकता है। 'झूठा-सच' को विचारने से पहले लेखक के इस मार्क्सवादी पूर्वग्रह के कारण उसकी कृतियों के प्रति बन गये अपने इस पूर्वग्रह **को स्वीकार** कर लेना आवश्यक समझता हूँ। क्योंकि 'झूठा-सच' की पहली **विशेषता ऐसे पूर्वग्रहों का स्पष्ट खण्डन** ही मानी जा सकती है। न तो यह उपन्यास सतही है, न मार्क्सवादी दृष्टिकोण का औपन्यासिक प्रचार-मात्र। उपन्यास निस्सन्देह मानव-जीवन के उन गण्य दस्तावेज़ों में है जिनका मूल्यांकन प्रमुखत: एक कला-कृति के रूप में होना चाहिए।

इस उपन्यास का सबसे सशक्त अंग है चरित्रों का चित्रण—उनका विषम परिस्थितियों के बीच अदम्य संघर्ष। ऐसा नहीं कि वे परिस्थितियों पर सदा विजयी ही होते हैं, लेकिन वे आसानी से टूटते नहीं। उनमें जीवन के प्रति एक गहरी आसक्ति है जो निराशा के घोरतम क्षणों में भी जीने का बल देती है। यह जीवन-लालसा या आसक्ति ही उपन्यास की धुरी है जिसके सहारे चरित्रों घटनाओं, संघर्षों, राजनैतिक दाँव-पेचों तथा सैकड़ों सूक्ष्म और स्थूल प्रतिक्रियाओं से लदे-फँदे लगभग 1200 पृष्ठों के इस उपन्यास का कथानक चलता है। उपन्यास आरम्भ करते समय उसके बृहत् आकार को देखकर सन्देह होता था कि क्या इसे समाप्त करने का धैर्य रहेगा? लेकिन उसे आसानी से समाप्त कर चुकने के बाद यह आश्चर्य किये बिना न रह सका कि छोटी-बड़ी दर्जनों जीवनियों का इस प्रकार निर्वाह कि उनमें से एक की भी विशिष्टता नष्ट न हो, उन्हें इस प्रकार सामान्य और असामान्य परिस्थितियों में कुशलता से गूँथना कि उनकी चारित्रिक विशेषताएँ उभर

NMDC-088

सकें, साधारण उपलब्धि नहीं। साथ ही, चरित्रों को लेकर जो वांछनीय तटस्थता लेखक बरतने में सफल हुआ है वह अन्यत्र उसी के उपन्यासों में मिलना कठिन है। 'गीता : पार्टी कॉमरेड' के रोमैण्टिक मार्क्सवाद की तुलना में 'झूठा-सच' का निहित जीवन-दर्शन लेखक के प्रौढ़तर दृष्टिकोण का द्योतक है। यह नहीं कि 'झूठा-सच' मार्क्सवादी दृष्टिकोण के आशावादी पहलू के प्रति सचेत नहीं, बल्कि यह कि उसे वह एक सफल कलाकृति में पूर्णत: पचा सकने में सफल हुआ है। एक कृति किसी वैचारिक आग्रह के कारण उतनी अशक्त नहीं होती जितनी कि उस विचार के अपच के कारण। यह दूसरी बात है कि हम लेखक की यथार्थ सम्बन्धी बुनियादी धारणा से ही असहमत हों, और यह न मानें कि जीवन केवल सामाजिक और आर्थिक ज़रूरतों से ही निर्देशित होता है, उन आत्मिक या आन्तरिक जरूरतों से नहीं, जिन्हें नितान्त वस्तुवादी दृष्टिकोण से समझाना कठिन है। शायद यह नि:संकोच कहा जा सकता है कि यशपाल ऐसी ज़रूरतों को विशेष महत्त्व नहीं देते—या उन्हें भी, मार्क्सवादियों की ही तरह, व्यक्ति की सामाजिक और आर्थिक विषमताओं से उत्पन्न मानते हैं। कम से कम 'झूठा-सच' में ऐसा कोई चरित्र नहीं जो किसी सूक्ष्म आत्ममन्थन से गुज़रता हुआ दिखाई दे। चाहे वह क्रमश: अपने आदर्शों से गिरता हुआ नायक जयदेव पुरी हो, चाहे बिना किसी आदर्श के भी एक आदर्श नायकत्व की ओर उठती हुई उसकी बहन तारा हो, चाहे पुरी से अपना वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ती और तोड़ती हुई कनक हो—वे सब जीवन के प्रति एक बिलकुल दैनिक और व्यावहारिक दृष्टिकोण रखकर चलते हैं। किसी भी परिस्थिति में उनका ध्यान तात्कालिक सामाजिक या पारिवारिक या आर्थिक कठिनाइयों से आगे, उन जटिलतर प्रश्नों की ओर नहीं जाता जिनका सम्बन्ध हमारे अस्तित्व की बुनियादी मजबूरियों से है। सामाजिक और आर्थिक सन्तुष्टि को ही जीवन का चरम समाधान मान लेने के ये अर्थ हैं कि हम रोग, बुढ़ापे, मृत्यु आदि की यथार्थता को विचारणीय समस्या नहीं मानते। 'झूठा-सच' के इतने बड़े आयाम में भी मनुष्य की तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति से बृहत्तर किसी मानवीय आकांक्षा को लेखक ने नहीं लिया है। पात्रों का साहसपूर्ण संघर्ष, जीने के लिए तो प्रेरणा देता है, लेकिन किसी बड़े हेतु के लिए जीने की प्रेरणा नहीं देता। स्वरक्षा मनुष्य और पशु दोनों के लिए स्वाभाविक है; आक्रान्त होने पर दोनों ही पूरी तरह अपनी रक्षा करने का प्रयत्न करेंगे। लेकिन पशु से अधिक विकसित मानव-विवेक यह समझ सकता है कि ऐसे भी जीवन-सत्य हैं जिनकी रक्षा के बिना अपनी रक्षा भी या तो सम्भव नहीं, या कोई मानी नहीं रखती।

उपन्यास के निष्कर्ष को विचारने पर ऐसा भी लग सकता है मानो पात्रों के न टूटने, हारने का कारण कोई समर्थ जीवन-दृष्टि या सांस्कृतिक विरासत नहीं, बल्कि इनका

NMDC-088

अभाव है! जैसा कि मैंने पीछे कहा, उनमें जीवन के प्रति एक आसक्ति तो है, पर आस्था नहीं : वह आस्था नहीं जिसका सम्बन्ध मनुष्य की विकासशील चेतना से है, बल्कि वह आसक्ति है जो किसी भी जीव में होती है। इस ऐतिहासिक तथ्य को समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि बहुत बड़ी प्राकृतिक या राजनैतिक दुर्घटनाओं के बीच ज़रूरी नहीं कि नष्ट होने-योग्य ही नष्ट हो, और बचने-योग्य ही बच रहे। ऐसे किसी विषय पर लिखी गयी एक कृति में यदि यह विवेक स्पष्ट नहीं उभरता तो उसे पूर्णत: सफल कृति नहीं कहा जा सकता। ऊपर से देखने पर ऐसा लगता है कि पंजाब-विभाजन के बवण्डर में पड़कर जो लोग दिल्ली की ओर आये उनके साथ ऐसी कोई विशिष्ट सांस्कृतिक या धार्मिक या नैतिक परम्परा नहीं आयी जिसका विनाश या सताया जाना पाठक के मन पर किसी अमूल्य और मार्मिक क्षति का बोध करा सके। ऐसा सन्देह हो सकता है कि लेखक या तो जान-बूझकर जीवन की इन सूक्ष्मताओं को महत्त्व नहीं देता, या जिन लोगों की बात वह कर रहा है उनमें ऐसी सूक्ष्मताएँ हैं नहीं, या फिर लेखक उन्हें समझ सकने में समर्थ नहीं।

लेकिन, 'उपन्यास में जो नहीं है' उसकी ओर ध्यान आकर्षित करने में मेरा अभिप्राय 'उपन्यास में जो है' उसका महत्त्व गिराना नहीं। तारा जिन मूल्यों का प्रतीक है, और पुरी जिन दुर्बलताओं का, उनका संघर्ष नैतिक-अनैतिक, अच्छे-बुरे आदि रूढ़-संघर्षों से कहीं अधिक वास्तविक है। यथार्थ को प्रमुखता देनेवाले यशपाल के लिए, पुरानी परिपाटी के अनुसार अच्छे को पुरस्कृत और बुरे को दण्डित दिखाकर औपन्यासिक न्याय करने का लोभ नहीं रहा है। सामाजिक-आर्थिक दृष्टि से न तारा असफल कही जा सकती है, न पुरी; फिर भी, जो मूल्य तारा-द्वारा प्रतिष्ठित होते हैं और पुरी-द्वारा अपमानित उनके बीच यदि मनुष्यता का सही पक्ष ही ऊपर आया है, तो इसे मैं उपन्यास की एक सराहनीय उपलब्धि मानता हूँ।

लेकिन, जब मैं यह कहता हूँ कि उपन्यास के पात्रों में सूक्ष्म अनुभूतियों का अभाव है तो मेरा संकेत पात्रों की अपेक्षा लेखक में खटकनेवाली एक कमी की ओर है। यशपाल कवि नहीं हैं : अपने में यह तथ्य कोई महत्त्व नहीं रखता किन्तु उपन्यास के सन्दर्भ में एक ऐसे गुण का अभाव प्रकट करता है जिसके बिना एक साहित्यिक कृति 'क्लैसिक' की कोटि में नहीं आ सकती। ज़रूरी नहीं कि एक अच्छा कवि अच्छा उपन्यासकार भी हो, लेकिन एक अच्छे उपन्यासकार में यदि कवि के भी गुण हों तो वह निश्चय ही बेहतर उपन्यासकार हो सकता है। 'मादाम बोवारी' का कोई भी पात्र कवि नहीं, उसी प्रकार 'झूठा-सच' का कोई भी पात्र कवि नहीं; लेकिन

NMDC-088

जिस विशेष अर्थ में उपन्यासकार गुस्ताव फ्लोबेअर कवि हैं और यशपाल नहीं, उसका अन्तर दोनों की कृतियों में स्पष्ट देखा जा सकता है। 'झूठा-सच' के नीरस प्रेम-प्रसंग लेखक के स्थूल दृष्टिकोण की प्रत्यक्ष असफलताएँ हैं।

'झूठा-सच' मुख्यत: सामाजिक-राजनैतिक पृष्ठभूमि पर लिखा गया यथार्थवादी उपन्यास है। इससे भिन्न किसी दृष्टिकोण से जाँचते समय यह सावधानी बरतना आवश्यक है कि विवेचना कृति के मूल मन्तव्य को देखते हुए असन्तुलित न हो जाये। उपन्यास की प्रमुख उपलब्धि उस साधारण जन-जीवन का विस्तृत और यथातथ्य वर्णन है जिसका एक रूप हम पंजाब-विभाजन के समय ('वतन और देश' : पहला भाग) पाकिस्तान में देखते हैं, और दूसरा रूप विभाजन के बाद ('देश का भविष्य' : दूसरा भाग) दिल्ली तथा उत्तर प्रदेश में। लेखक की जो भी स्वाभाविक सीमाएँ हैं उनके बावजूद उसकी प्रतिभा छिपती नहीं। घटनाओं और चरित्रों की इतनी असाध्य विविधता को एक उपन्यास के दायरे में इस इतमीनान से सँभाल लेना शिल्प की मामूली सफलता नहीं।

पंजाब-विभाजन उपन्यास का मुख्य खल-पात्र माना जा सकता है, जो पंजाब से उखड़कर दिल्ली की ओर आनेवाली एक समूची पीढ़ी के जीवन को अस्त-व्यस्त कर देता है। कैसे इस पैशाचिक तहस-नहस के बाद भी साहस और आपसी सहायता के बल पर वह पीढ़ी अपने को नयी परिस्थितियों में फिर से जमाती है, उपन्यास की कथा-वस्तु है। उस बड़ी राजनैतिक घटना को कुछ साधारण, कुछ विचारशील पात्रों के द्वारा इस प्रकार देखा गया है कि उसमें दैनिक जीवन की निकटता और तीव्रता आ गयी है। विश्व-साहित्य में ऐसे उपन्यासों की एक विशिष्ट परम्परा है, जैसे तॉल्स्तॉय का 'वार ऐण्ड पीस' तथा शोलोखोव और अपटन सिंक्लेयर के उपन्यास। 'झूठा-सच' भी उतने ही बड़े लक्ष्य को लेकर चलता है-किसी सीमा तक उसमें सफल भी होता है - लेकिन तुलना करते समय उसमें वह कमी महसूस होती है जिसके बारे में मैं कह आया हूँ।

कथानक को मुख्यत: तीन चरित्रों के माध्यम से देखा जाना चाहिए-पहला, जयदेव पुरी; दूसरा, उनकी बहन तारा और उन दोनों का परिवार; तीसरा, कनक और उसका परिवार। प्रसंगवश, पुरी और तारा का मकान जिस गली में है-भोला पान्धे की गली-उसका वर्णन उपन्यास साहित्य के उन अमिट स्थलों में से है जिनके लिए कहा जा सकता है कि वे यथार्थ से भी गहरा प्रभाव मन पर छोड़ जाते हैं। कथा का

NMDC-088

एक सूत्र है पुरी का कनक से प्रेम, किन्तु उनके विवाह में सामाजिक तथा आर्थिक विषमताओं के कारण बाधाएँ, पंजाब-विभाजन की घटनाएँ, कनक की दृढ़ता और पुरी से विवाह-बच्चे, राजनीति-विशारद सूदजी की कृपा से पुरी का आर्थिक उत्थान और चारित्रिक पतन तथा अन्त में कनक से सम्बन्ध-विच्छेद। आदर्शवादी पुरी का कथानक के सूक्ष्म ताने-बाने द्वारा धीरे-धीरे नायक पद से गिरना उपन्यास की उल्लेखनीय मनोवैज्ञानिक सफलताओं में से है। नायक के प्रति लेखक कहीं भी परम्परागत औपन्यासिक पक्षपात नहीं दिखाता : तटस्थ भाव से उसे जीवन की कठिन परीक्षाओं से गुजार कर हमारे सामने अन्तिम परिणाम रख देता है - बिना कोई राय दिये हुए, बिना कहीं उसकी ओर से शरीक हुए। मानो वह अच्छे-बुरे, गुण-दोष आदि की जटिल मीमांसा में पड़ने के बजाय, उस वास्तविक जीवन-क्रम को हमारे सामने रखना चाहती है जिसे समझे बिना और कुछ समझना अपने को धोखा देना है।

कथानक का दूसरा सूत्र है तारा, उसका मुसलमान राजनैतिक कार्यकर्त्ता असद के प्रति आकर्षण और निराशा, उसका ज़बरदस्ती एक अयोग्य वर से विवाह, पंजाब-विभाजन, तारा पर बलात्कार, छुटकारा, दिल्ली में कई नौकरियाँ और अन्त में एक स्थायी सरकारी नौकरी, शिक्षित और उदार डॉ० प्राणनाथ से पुनर्विवाह। तारा का विकास पुरी से विपरीत ढंग से होता है और अन्त में वही उपन्यास का सबसे सशक्त और प्रमुख पात्र बनकर उभरती है। इन दोनों से अलग व्यक्तित्व है अर्ध-आधुनिक शिक्षा-दीक्षावाली कनक का। इन दोनों की अपेक्षा कनक का व्यक्तित्व इस अर्थ में अधिक जटिल माना जा सकता है कि वह एक ऐसे वातावरण में पली है जिसमें पाश्चात्य और भारतीय संस्कृतियों का आभिजात्य गोलमाल है। लेखक शायद इस चरित्र को उतनी खूबी से नहीं उभार पाया है जितना मध्यवर्गीय और निम्न-मध्यवर्गीय चरित्रों को। ऐसा लगता है कि व्यक्तित्व की मनोवैज्ञानिक जटिलताओं को व्यक्त करने लायक अन्तर्दृष्टि और भाषा यशपाल के पास नहीं। वे जीवन को समझदारी से देखते हैं और जो कुछ देखते हैं उसे उतनी ही वफ़ादारी से बयान करने में कम लेखक उनकी बराबरी कर सकते हैं, लेकिन जहाँ कल्पना और पैनी संवेदनाओं को व्यक्त करने का सवाल है, उनकी भाषा पर्याप्त लचीली नहीं। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं उनकी भाषा की अन्य विशेषताओं का कायल नहीं: उदाहरण के लिए, असामान्य विचारों और तर्कों को अत्यन्त सहज और सुलझे ढंग से कह सकने की उनमें अपूर्व क्षमता है। विषम के साथ-साथ भाषा भी जटिल न हो जाये,

NMDC-088

मूलत: इसका सम्बन्ध लेखक की वैचारिक ईमानदारी और स्पष्टता से तो है ही, लेकिन उसका यह पहलू भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि लेखक स्वयं अपने विचारों को व्यक्त करने के इस माध्यम-यानी भाषा- के विकास में कितनी गहरी दिलचस्पी रखता है, उसके संवर्धन में कितना प्रयोगशील है। यशपाल की भाषा में भी एक ख़ास शैली का रस लिया जा सकता है - वैसे ही जैसे जैनेन्द्र, अज्ञेय या हजारीप्रसादजी की भाषाओं की अलग-अलग विशेषताएँ हैं। उपन्यास के सन्दर्भ में यशपाल की भाषा का यह गुण श्लाघ्य है कि वह कहीं भी थकाती नहीं।

NMDC-088

3. ऐतिहासिक त्रासदी और मानवीय जिजीविषा

परमानंद श्रीवास्तव

यशपाल की कलाकृतियों में 'झूठा सच' का असाधारण महत्त्व है। काल के जितने बृहत्तर सन्दर्भों-आयामों के भीतर मानव इतिहास को देखने की चेष्टा इस उपन्यास में की गयी है, वह अपने ढंग का एक अकेला उदाहरण है। स्वयं यशपाल का लेखन 'झूठा सच' की उपलब्धियों को अधिक सार्थक-सजीव रूप में दुहरा करने में सफल नहीं हो पाया है। सबसे पहले इस कथा के विस्तार के ही अधिसंख्य सूत्रों पर दृष्टि डालने की आवश्यकता होगी। ऐसी कृति से गुजरना अपने-आप में एक महत्त्वपूर्ण अनुभव भी है। शेष प्रश्न बाद में उठेंगे। दो खण्डों में उपस्थित एक विस्तृत कथाफलक का यह उपन्यास इस धारणा को चरितार्थ करता है कि उपन्यास को सच्चे अर्थों में जीवन का महाकाव्य होना चाहिए। इतने विस्तृत कथानक को एक विचार-दृष्टि से नियन्त्रित करने की आवश्यकता हो सकती है। किसी-न-किसी रूप में यह विचार दृष्टि 'झूठा सच' के व्यापक और उद्विग्न जीवन को चित्रित करने वाले कथा-संसार में मौजूद है चाहे उसे कोई उपयुक्त संज्ञा न दी जा सके।

इस उपन्यास की कथा मुख्य रूप से जयदेव पुरी, तारा और कनक के बीच या फिर इन्हीं पात्रों के पारिवारिक और सामाजिक सम्बन्धों के बीच सक्रिय है। जयदेव पुरी इसका केन्द्रीय चरित्र है। नायक की रूढ़ि के अनुसार वही नायक भी है। पर उसके चित्रण में उसे बनाने-बिगाड़ने वाली घटनाओं को कहीं भी कोई आग्रहयुक्त परिणति देने की चेष्टा नहीं की गयी है। वह जैसा भी है आरम्भ में थोड़ी-बहुत क्षमताओं सहित और बाद में अपनी असंख्य दुर्बलताओं सहित इस उपन्यास में उपस्थित है। अपने समय की घटनाओं में जयदेव पुरी की भूमिका एक हद तक सराहनीय रही है। वह युद्ध विरोधी आन्दोलन में भाग लेने के लिए गिरफ्तार हुआ। उसकी अनुपस्थिति में तारा की सोमराज साहनी से सगाई हुई। तारा को शिक्षा में जो सफलता मिली उसके पीछे जयदेव पुरी का बल था। उसी की प्रेरणा से तारा ने दयाल कॉलेज में प्रवेश लिया और मिथ्या संस्कारों से मुक्ति पायी। असह्य महँगाई, ब्लैक और भ्रष्टाचार का जोर था। तारा को डॉ. प्राणनाथ का सहयोग मिला। मरी में जयदेव ने उर्मिला की चपलता देखी। इस घटना ने जयदेव को क्षुब्ध किया। उधर 'नया हिन्द पब्लिकेशन' के पण्डित गिरधारीलाल की पुत्री कनक राजनीतिक और आधुनिक विचारों के सम्पर्क में थी। जयदेव ने कनक के लिए संघर्ष करके पैरोकार की जो नौकरी स्वीकार की वह इसी आत्मनिर्भरता

NMDC-088

की दिशा में एक युक्ति थी क्योंकि इसके लिए पुरी को गलत समझौते करने पड़े और अपने मन पर दबाव डालने पड़े। इसी प्रक्रिया में कनक के साथ सम्बन्ध को स्वीकृति मिली। कनक को लेकर जयदेव की अपनी कल्पनाएँ थीं पर तारा के सम्बन्धों के प्रति जयदेव शंकित था। यह शंका पहले कम्युनिस्टों के प्रति तारा की सहानुभूति को लेकर थी। साम्प्रदायिकता का जोर बढ़ रहा था। जयदेव ने ही तारा को सांत्वना देने की कोशिश की, कि विवाह ही सब कुछ नहीं है। जो परिवर्तन हो रहे हैं वे बड़े हैं। फेडरेशन के असद अहमेद से तारा के परिचय के साथ जयदेव में कुछ गाँठें बनीं। असद को तारा ने विश्वास में ले लिया था। यहाँ तक कि अपनी आर्थिक समस्याएँ बता दी थीं। दंगों का असर समूची जिन्दगी पर था। आर्थिक और नैतिक सच्चाइयाँ सामने आ रहीं थीं। डॉ. प्राणनाथ के पारिवारिक ट्यूशन से तारा की छुट्टी हो गयी। डॉ. प्राणनाथ के यही शब्द उसके साथ रह गये – 'आई लाइक यू'। रतन और शीलो के सम्बन्धों के प्रति तारा में पहले क्रोध था या घृणा थी। इधर रतन के बारे में एक नयी पहचान हुई क्योंकि वह प्रेम की नैतिक जिम्मेदारी से बच नहीं रहा था। हवा में छोटे-मोटे बहुत से आकर्षण थे। तारा और असद की तरह प्रद्युम्न और जुबेदा। दूसरी ओर साम्प्रदायिक दंगों की भयंकर उग्रता थी। पुरी और कनक के सम्बन्धों में नयी बातें पैदा हो रही थीं। तारा को लेकर जयदेव के परिवार में उत्तेजना थी। उधर उर्मिला विधवा हो गई। जयदेव को उसके दुस्साहसी होने का ख्याल आया। 'कशिश' से जयदेव को छुटकारा मिला। अब वह अनिकेत था – सड़क पर उड़ते जाते पत्ते की तरह। तारा के सामने अपने विनाश की समस्याएँ थी। तारा ने ब्याह न करने का निर्णय लिया। उसका मनोबल बढ़ रहा था। कनक तारा के घर आयी तो नौकरी छूटने का पता चला। कनक ने बहाने से रुपये लिए और पुरी को भेजे यद्यपि फिर पुरी ने लौटा दिये थे। पुरी ने कनक से दूर रहने की यातना स्वीकार की। कनक के पिता कनक से सतर्क हुए – पुरी को अलग करना चाहा। कनक का सामने आना बन्द हो गया तो पुरी की शंकाएँ बढ़ीं। तारा अपनी ओर से घर छोड़कर असद के पास आयी तो असद के सामने पार्टी की अनुमति का सवाल था। जयदेव और तारा में झड़प हुई अर्थात् कनक के प्रति पुरी का क्रोध तारा पर बरस रहा था। तारा ने अपना माथा खाट के पावे पर पटक दिया। पुरी के मन में पछतावा था। वह तारा से शंकित था और कनक से निराश। कनक अपनी ओर से मॉडल टाउन में नय्यर पर दबाव डाल रही थी। उधर एक किन्हीं डॉ. शोभा के साथ दुर्घटना हुई। यों दुर्घटनाएँ हर पल हो रहीं थीं। दंगों के प्रसंग में पुरी

NMDC-088

को फिर जेल जाना पड़ा। कनक ने पुरी से फिर जेल में भेंट की। पुरी को छुड़ाने के लिए नय्यर से कहा। पुरी ने गौस मुहम्मद से काम लिए थे– जिसकी मृत्यु हो गयी। बदली हुई परिस्थितियों में तारा ने अपने को समझाना चाहा कि पुरानी बातें समाप्त हो गयीं – यही मेरा भविष्य है और संसार। नैनीताल में कनक का परिचय श्रीमती पन्त और अवस्थी से हुआ। पुरी कनक का पत्र लेकर लखनऊ गया। पुरी ने ही कनक को तारा के न होने की सूचना दी थी। जयदेव झूठ बोल गया था कि तारा को तय किये गये विवाह से कोई एतराज नहीं था। जयदेव के चरित्र की बनावट धीरे-धीरे स्पष्ट होने लगी थी। जयदेव ने संघर्ष किया था पर उसकी दुनिया "चार सौ मासिक, छोटे बंगले, स्वच्छ साफ कपड़े, आदरपूर्ण व्यवहार और निस्संकोच मुस्कराती कनक" से सन्तुष्ट हो जानेवाली दुनिया थी। पुरी और कनक ने निश्चय किया था कि पन्द्रह अगस्त को वे साथ रहेंगे। बीच में कनक के पिता का पत्र आ गया कि कनक को रुकना चाहिए। सोमराज से तारा के व्यवहार की परिणति यह थी कि तारा पहली ही रात में निकल भागी और नब्बू के हाथ लगी। स्त्री के अपमान की यन्त्रणाएँ अपने सभी क्रूर रूपों में मौजूद थीं। हाफिजजी के परिवार में सद्व्यवहार था पर मुसलमान बनाने की साजिश भी थी। अब तारा को असद की याद आती तो उसमें उत्साह, आकर्षण या माधुर्य न होता। सच तो यह है कि उसे पुरुष मात्र से विरक्ति हो गयी थी। पुरी को लखनऊ में उपेक्षा मिली — वह लाहौर जाना चाहता था। सब कहीं हिंसा का आतंक था। नारंग-परिवार से पुरी की भेंट हुई। वीभत्स प्रसंग यहाँ से वहाँ तक फैले हुऐ थे। कैम्प के नाम पर तारा फिर धोखे में थी। सतवन्त, बन्ती सबके साथ एक-न-एक गलीज प्रसंग घटित हुआ था। हालाँकि उनकी स्मृतियों में वे मुसलमान भी थे जिन्होंने सहायता की थी। रोटी के टुकड़ों पर छीना-झपटी चल रही थी। इसी कैम्प में असद से तारा की भेंट हुई। असद के दुबारा आने के पहले तारा अमृतसर भेज दी गयी। यह पहले अध्याय का अन्त है।

दूसरे का आरम्भ पुरी के असहाय होने के संकट और इसी बीच सूदजी से भेंट के विवरण से होता है। सूदजी ने प्रेस के दायित्व में पुरी को लगा दिया और अब पुरी फिर कनक के बारे में सोच रहा था। नारंग-परिवार पुरी के साथ आ गया। फिर उर्मिला के झुकाव की प्रतिक्रिया से उसके माता-पिता उसे छोड़कर चले गये। पुरी कनक के अधिकार का दावा अनुभव करता था परन्तु उर्मिला के प्रति उसका अपना अधिकार और दायित्व भी तो था। उधर नैनीताल में नय्यर परिवार के

NMDC-088

समक्ष नया आर्थिक संकट था। गिरधारीलाल दिल्ली आ गये थे। नय्यर का परिवार भी दिल्ली आ गया। गांधीजी को लेकर दिल्ली में उत्तेजना थी। कनक की असीर से पहचान हुई। उसके प्रति सन्देह भी हुआ। तारा कैम्प में आयी तो नये अनुभव हुए। तारा बन्ती के साथ अमृतसर गयी। वहीं परिवार के अमानवीय अस्वीकार की यन्त्रणा से उसकी मृत्यु भी हुई। कैम्प में ही तारा की भेंट डॉ. श्यामा से हुई। इसके बाद तारा मिसेज अगरवाला के परिवार में पहुँची। वहाँ साहब, नरोत्तम, डाली सबके अलग-अलग आग्रह थे। तारा कपूर-परिवार से परिचित हुई। उधर कनक को जॉब मिला। गिल कनक के सम्पर्क में आया। गिल के प्रति कनक की सहानुभूति थी। कनक ने पुरी का पता पाकर भेंट की। यहाँ उर्मिला को नर्सिंग की ट्रेनिग के लिए लुधियाना भेजकर यशपाल ने कनक और पुरी के सम्बन्ध की समस्या हल की है। अग्रवाल परिवार में तारा के आकर्षण का असर था। पुरुष के मनोविज्ञान की असलियत भी सामने आ रही थी। तारा ने अग्रवाल दम्पती के तनाव को जाना। यह जाना कि स्त्री का जीवन पुरुषों के जुल्म का शिकार है। तारा की नियुक्ति हुई, उसे मर्सी परिवार में रहने को मिला। वहाँ कम्युनिस्टों की आवाजाही थी। तारा की विडम्बना यह थी कि पुराने परिचित उसे 'मरी हुई' जानते थे और नये 'कुमारी। तारा की विभाग में ख्याति थी और तरह-तरह के दबाव भी थे। गिरधारी लाल ने स्वीकार कर लिया था कि कनक और पुरी सिविल मैरेज कर सकते हैं। कनक और पुरी ने अखबार के लिए कड़ी मेहनत की। कनक को लगा पुरी के स्नेह का आवेग क्षीण होता जा रहा था। पुरी कभी-कभी बह भी जाता तो अन्त में उसे "आत्मक्षय के असंयम का उग्र सन्ताप घेर लेता''। गिल जालन्धर पहुँचा। इस बीच प्रेस का मुकदमा चला। तारा की शीला से भेंट हुई। नरोत्तम तारा के लिए बचनबद्धता अनुभव कर रहा था, तारा के स्पष्टीकरण ने उसे बचाया। तारा को पुरुषों से घृणा थी। उसने शीलो को मुक्त किया। रतन के प्रति अपनी राय बदली। उसे सीता की उच्छृंखलता का पता लगा। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के अध्यापक तिवारी का तारा के लिए प्रस्ताव था। लाला सुखलाल भी जालन्धर में थे। कनक को तारा के जीवित रहने का पता चला। पुरी तारा के प्रति कनक की उत्साहित भावुकता से खिन्न था। कथा के विस्तार की दृष्टि से देखें तो — बीच में सूदजी की राजनीति के प्रसंग उपन्यास के कलेवर को अनावश्क विस्तार देते हैं। तारा इस समय अण्डर सेक्रेटरी थी। नारी कल्याणकारी संस्था की अध्यक्ष। कुछ अधिकारियों को उसके कम्युनिस्ट होने का सन्देह था। वह प्लानिंग कमीशन के आर्थिक परामर्शदाता से मिलने गई तो उस पद पर डॉ. प्राणनाथ को

NMDC-088

पाया। तारा ने सीता का ब्याह किया और अपने दुःखों का हिसाब लगाया। "मेरे दुःख, बन्ती के दुःख, मिसेज अगरवाला के दुःख, शीलो और श्यामा के दुःख।" स्वतन्त्र भारत में पहला आम चुनाव हो रहा था।। कनक शीलो का पता लगाने तारा के पास पहुँची। पुरी की सामाजिक जड़ों और सामाजिक वर्तमान के विवरण उपन्यास में दूर तक चलते हैं। कनक ने तीखे तनाव में निर्णय लिया — मेरे लिए वहाँ रहना संभव नहीं। मुझे उनकी कोई बात अनुकूल नहीं लगती। तारा ने अनुभव किया कि कनक को दोष नहीं दिया जा सकता। कपूर का प्रसंग टूटा — तारा को भ्रमों से मुक्ति मिली। मर्सी को लगा कि तारा प्राणनाथ के बारे में उत्सुक थी। सोमराज साहनी अपनी अर्जी के साथ अफसर तारा के सामने था। डॉ० प्राणनाथ के घर तारा पहुँची तो वह स्थिति आ ही गयी और डाक्टर ने विवाह का प्रस्ताव किया। पुरी ने कनक को फिर पाने की कोशिश की। पुरी ने प्रतिज्ञा की — जिस बात से विरक्ति थी, वह नहीं होगी। कनक ने पुरी (दैहिक आसक्ति और अक्षमता को लेकर जिसके प्रति गाँठ थी) को स्वीकार नहीं किया पर सम्बन्ध टूटने में कानूनी कठिनाइयाँ थीं। वह यही सोचती रही कि गिल को क्या बताएगी। झूठ सच और वास्तविक सच का अन्तर यह है कि तारा और कनक एक साथ हैं, पुरी और सोमराज एक साथ। प्राणनाथ पर दोष लगाये गये — फिर वे मुक्त हुए और अनुभव किया कि देश का भविष्य जनता के हाथ में है।

इतनी विस्तृत कथा को एक बड़े जटिल ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में रखकर यशपाल ने प्रमाणित किया है कि मनुष्य के दुर्दमनीय इतिहास को युक्तियों में सीमित करने की उनकी कोई इच्छा नहीं। मनुष्य युक्तियों से बड़ा है। इसीलिए कुँवरनारायण ने इस उपन्यास को मानव जीवन के ऐसे गण्य दस्तावेज के रूप में देखा है जिसका मूल्यांकन प्रमुखतः एक कलाकृति के रूप में अपेक्षित है। पूरे उपन्यास को मानव जिजीविषा के एक सजीव इतिहास के रूप में देखा जा सकता है। एक ही जीवन में असंख्य नरक भोग करके भी मनुष्य जीने की लालसाओं से मुक्त नहीं हो पाता। यशपाल ने मानव समूह के निपट वर्तमान को जिस तीव्रता से देखा है उसकी सराहना इसके बाद भी की जायेगी कि यह उपन्यास मानव अस्तित्व के किन्हीं बुनियादी प्रश्नों को आत्मान्वेषण की गहरी प्रक्रिया में नहीं डालता। मुख्य रूप से समाज और राजनीति के उद्विग्न सम्पर्कों की भूमिका में लिखे गये इस यथार्थवादी उपन्यास में पंजाब विभाजन की भयावह परिस्थितियों को भाषा दी गयी है। इतनी बड़ी कथा को, उत्तेजना और विक्षोभ के इतने असंख्य संदर्भों में गूँथकर मार्मिक

NMDC-088

परिणति तक ले जाना और संख्यातीत चरित्र इकाइयों को अविस्मरणीय बना पाना यशपाल की ही कला की खूबी है।

इतिहास के इतने विस्फोटक युग-प्रसंग को एक सर्जनात्मक कृति का विषय बनाना इस दृष्टि से चुनौती ही है। क्योंकि लेखक की दृष्टि को 'आवेश' के दुष्चक्र में फँसा लेने वाले अनेक प्रलोभन खतरे के रूप में प्राय: मौजूद हैं — जो यहाँ भी हैं और कहना कठिन है कि यशपाल सर्वत्र इसके शिकार नहीं हुए। एक तो इतने विशद इतिवृत्त में तथ्यों का चयन इस रूप में सम्भव नहीं हो सका कि मानवीय गरिमा अनेक क्षुद्रताओं के बीच सहज, अनाटकीय रूप में व्यक्त हो पाती। तारा के चरित्र की परिणति (नेमिचन्द्र जैन से शब्द लेकर कहें तो) एक 'सफलता-कथा' में सीमित होकर रह जाये, यह विडम्बनापूर्ण है। तारा के जीवन के प्रसंग सही और प्रामाणिक हैं पर उनकी परिणति युक्तिपरक है। सोद्देश्य कला और मानव नियति की सहज और वास्तविक या मौलिक विडम्बनाओं की रहस्यमयता में प्राय: तालमेल बिठाना कठिन होता है। यह जीवन की समझ या अनुभव से अधिक कलाकार की सर्जनात्मक दृष्टि और कलात्मक संयम की समस्या है। भोले पांधे की सँकरी गली से दिल्ली सरीखे महानगर तक चलने वाली इस दारुण जीवन-कथा के संदर्भ यशपाल के सीधे साक्षात्कार के विषय रहे हैं — पर अनुभव के स्तर पर ही। यशपाल की सीमा यह है कि वे उन्हें भाषा देते हुए अकसर ही, अनजाने ही अपनी व्याख्या, राजनीतिक मताग्रह, मानस्वभाव पर निर्णय देने की उतावली के अतिरेक में फँसते गये हैं। यह जरूर है कि इतने व्यापक कथानक को सँभालने की चुनौतियाँ ही इतनी बड़ी हैं कि एक बार पाठक समूचे विक्षोभ से अपने को अभिभूत पायेगा और असंख्य घटनाओं की संगति के सन्दर्भ में मानव नियति के चित्रण के मूल्यांकन की समस्याएँ पहली बार ही शायद ही उठेंगी। रही बात ऐसी कृति की मूल्यसत्ता के निर्णय के रचनात्मक दायित्व की। कला की निजी सत्ता का प्रश्न उठाते ही हमारे यहाँ यह आपत्ति प्राय: की जाती है कि समीक्षक के मन पर रूपवाद का आतंक है — जबकि प्रश्न 'रूपवाद' या 'शिल्पविधि' का नहीं है– प्रश्न है उस तटस्थ दृष्टि का जो घटित यथार्थ को व्याख्या की दृष्टि से नियंत्रित करने के पहले उसकी मानवीय समग्रता की पहचान को उचित महत्व दे सके। अनुभव का वैविध्य, राजनीतिक और भिन्न प्रकार के सम्बन्धों की गहरी समझ, अपने भीतर सक्रिय व्यंग्यात्मक दृष्टि (जो निश्चय ही, तीक्ष्ण और मर्मभेदी हो), व्यापक मानवीय सहानुभूति – यशपाल की वे विशेषताएँ हैं जो उन्हें उनके समकालीन

NMDC-088

लेखकों से भिन्न और विशिष्ट प्रमाणित करती हैं। ऐसी दुर्लभ विशेषताओं के संयोग के आधार पर यशपाल से 'झूठा सच' जैसी महत्त्वपूर्ण कथाकृति की सहज ही अपेक्षा की जाती थी। आग्रह और चयन की कुछ सीमाओं को छोड़ दें तो यशपाल की पूर्ववर्ती रचनाओं में इसकी सम्भावना बनी हुई थी कि वे मानव-इतिहास के सम्बन्धों के जटिल और व्यापक संघर्ष को अधिकारपूर्वक व्यक्त कर सकेंगे। 'झूठा सच' के प्रसंग यदि सतह के समाचार हैं और जीवन के बाह्य को ही चरितार्थ करते हैं तो भी इनकी प्रामाणिकता और विश्वसनीयता असंदिग्ध है। फिर कला की दृष्टि से इस उपन्यास की सीमाएँ कहाँ हैं। शायद सत्य की अवधारणा या आकलन में नहीं, प्रयत्नपूर्वक उनकी तार्किकता सिद्ध करने की प्रक्रिया में ही है जिसे आलोचक 'सत्य के लिए साक्षी जुटाने की कोशिश' के रूप में देखते हैं।

क्या कारण है कि यशपाल को 'झूठा सच' संज्ञा को प्रमाणित करने के लिए एकाधिक तर्क देने पड़े हैं जिनमें से एक नय्यर की दी हुई व्याख्या यह है–"घटना तो झूठ-सच नहीं होती, झूठ-सच तो घटना को प्रकट करने के प्रयोजन में होता है। मूल सत्य को प्रकट करने के लिए प्रयत्न करना या उसे जमाना भी आवश्यक होता है। सच को बल देने के लिए साक्षी आवश्यक होती है।" इस व्याख्या में ही आरोपित दृष्टि का उद्देश्यप्रेरित सरलीकरण निहित है। यदि उपन्यास के समर्पण में यशपाल कह रहे हैं–"सच को तो कल्पना से रँगकर उसी जनसमुदाय को सौंप रहा हूँ जो सदा झूठ से ठगा जाकर भी सच के लिए अपनी निष्ठा और उसकी ओर बढ़ने का साहस नहीं छोड़ता"– तो उनकी सदाशयता में सन्देह नहीं किया जा सकता, पर हम जो चाहते हैं उसे एक आदर्श परिणाम तक खींचकर घटित के मुहावरे में ले जाना उन अन्तर्विरोधों को जन्म देता है जो रचना की निपट अनिवार्यता के विरुद्ध होते हैं। यही कारण है कि राजनीतिक विवेचन के आग्रह और मानवीय संवेदना की तटस्थ पहचान के बीच जो सन्तुलन 'झूठा सच' को अधिक निखार दे सकता था उसमें यहाँ साफ दरार दिखाई देती है।

मूल्यों के इस तीखे उत्तरोत्तर विघटन की कहानी में स्त्री अत्याचार का मुख्य विषय बनी हुई हैं – इसमें शायद कोई असंगति नहीं – प्राय: ऐसी ऐतिहासिक विभीषिकाओं के कथानकों का मुख्य हिस्सा स्त्री के प्रति बर्बर अत्याचारों से भरा होता है। अमानवीयता सबसे निर्मम रूप से शायद मानवीय सम्बन्ध के इसी स्तर पर क्रूरतम रूप से व्यक्त होती है। पर एक तरह की वास्तविकता का आतंक दूसरी भिन्न सम्बन्धों में निहित उतनी ही ज्वलन्त वास्तविकताओं को धुँधला बनाने लगे; तो फिर

NMDC-088

तथ्यों के चयन और अनुपात की समस्या सामने आती है। 'झूठा सच' के सन्दर्भ में भी यह समस्या सतर्क पाठक के सामने जरूर उपस्थित होगी।

चरित्रों की बनावट में भी यशपाल की कुछ सीमाएँ साफ दिखाई देती हैं। तारा के प्रति पुरी की कठोरता और अतिरिक्त आक्रोश, कनक के प्रति पुरी का अचानक और वह भी इतनी तेजी से भाव-परिवर्तन – इस उपन्यास की चरित्र सृष्टि के कुछ विवादास्पद पहलू हैं। कई बार यशपाल के चरित्रों की परिणति आरोपित, असंग और कृत्रिम जान पड़ती है – कुछ चरित्रों को आदर्शों के बने-बनाये साँचे में ढालने की सतर्क चेष्टा भी यशपाल की कलात्मक सार्थकता को क्षीण करती है। मानवीय दिनचर्या की सापेक्ष व्यावहारिकता से भिन्न विकलताएँ यशपाल के चरित्रों में नहीं हैं इसलिए आश्चर्य नहीं कि उनका दृष्टिकोण जीवन की मौलिक सच्चाइयों और मानव-अस्तित्व के गहन प्रश्नों के प्रति उपेक्षाशील जान पड़े ।

अन्त में, यशपाल के सम्बन्ध में कुँवरनारायण का यह कथन सही और उपन्यास कि सर्जनात्मक आवश्यकताओं के संदर्भ में नये सिरे से विचारणीय है, 'यशपाल कवि नहीं हैं: अपने में यह तथ्य कोई महत्व नहीं रखता किन्तु उपन्यास के संदर्भ में एक ऐसे गुण का अभाव प्रकट करता है जिसके बिना एक साहित्यिक कृति 'क्लैसिक' की कोटि में नहीं आ सकती।''

NMDC-088

4. झूठा सच: पीड़ित मानवंता का स्वर

शशिभूषण सिंहल

वस्तुस्थिति पर गहन व्यंग्य

'झूठा सच' यशपाल का महाकाय उपन्यास है। इसके लगभग बारह सौ पृष्ठों के कलेवर में, उपन्यासकार ने भारतीय जीवन की दो महान् अविस्मरणीय घटनाओं का पूर्ण मनोयोग से चित्रण किया है। ये घटनाएँ हैं, भीषण रक्तपात से युक्त देश का विभाजन तथा स्वातंत्र्योत्तर देश का आरंभिक दस वर्षीय जीवन। इन दोनों घटनाओं के आधार पर उपन्यास को, 'वतन और देश' तथा 'देश का भविष्य' उप-शीर्षकों के अन्तर्गत, दो भागों में विभाजित किया गया है। उपन्यास सामाजिक तथा राजनीतिक प्रश्नों को लेकर चलता है। सामाजिक प्रश्नों के अन्तर्गत नारी पुरुष के सम्बन्धों, विभिन्न वर्गों के पारस्परिक द्वेष-भाव तथा सांप्रदायिक कटुता को मुख्य रूप से चित्रित किया गया है। राजनीतिक धारा इन चित्रों के तल में निरंतर प्रवहमान है। राजनीति में देश के विभाजन के कारणों, समाज की आर्थिक विषमताओं तथा स्वातंत्र्योत्तर देश में, पूँजीवादियों के पक्षधर नेताओं एवं उनकी देन भ्रष्ट प्रशासन-व्यवस्था के प्रकरण आए हैं। उपन्यास में शहरी जीवन का ही चित्रण है और उसके अधिकांश पात्र वर्गगत (टाइप्स) हैं।

'झूठा सच' के समस्त प्रथम भाग (1958) तथा द्वितीय भाग (1960) के पूर्वार्ध का विषय देश के विभाजन की लोमहर्षक दुर्घटना रही है। यशपाल ने असाधारण तटस्थता से तत्संबंधी अनेकानेक प्रकरणों की विराट् दृश्यमाला उपन्यास में सँजोयी है। ये दृश्य अपनी जीवंतता के कारण पाठक के कल्पना-नेत्रों में साकार हो उठते हैं। अपनी स्पष्टता, तटस्थता, सुसंबद्धता तथा सर्वांगीणता के बल पर, यह दृश्यावली इस राष्ट्रीय घटना के सजीव इतिहास के रूप में अविस्मरणीय एवं संग्रहणीय है। इसमें देश के दुःखद विभाजन की भूमिका, विभाजन तथा विभाजनोपरांत दशा-कुदशा का ब्योरा है तथा उस हलचल के बीच समाज के सभी वर्गों एवं अंगों की क्रिया-प्रतिक्रिया का विशद अंकन है। संभवतः सन् 1978 में दर्शनशास्त्री तथा हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक तथा उपन्यासकार डॉ० देवराज ने अपने व्याख्यान में कहा था, 'झूठा सच' को महाकाव्यात्मक उपन्यास नहीं कहां जा सकता। यह विभाजन के समय लाहौर के सांप्रदायिक दंगों की अख़बारी करतनों से तैयार किया गया।

NMDC-088

इसके चित्रण में औपन्यासिक गौरव का अभाव है। तोल्सतोय के उपन्यास 'युद्ध और शांति' का तुलनात्मक दृष्टि से उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा था कि उसकी भाषा में अपूर्व प्राणवत्ता है। उसे पढ़कर लगता है, मानो रूस और फ्रांस की सेनाएँ परस्पर जूझने के लिए साक्षात् 'मार्च' कर रही हैं। 'झूठा सच' की भाषा में वह शक्ति नहीं।

इस प्रसंग में हमारा विनम्र निवेदन है कि किसी ऐतिहासिक घटना पर विधिवत् लिखने के लिए तत्कालीन उपन्यासकार को आधार-सामग्री इतिहास, या समसामयिक अविरल इतिहास-प्रवाह, अथवा समाचार-पत्रों से संकलित करनी होती है। तभी, उसके लेखन में प्रामाणिकता और समुचित गहराई आना संभव है। देखना यह है कि प्राप्य सामग्री को आत्मसात करके उपन्यास के सुगठित कथा-सूत्र में सँजोने तथा संवेद्य बिंबों के रूप में प्रस्तुत करने की क्षमता उपन्यासकार प्राप्त कर पाया है, या नहीं। ध्यानपूर्वक 'झूठा सच' को पढ़ा जाए, तो उस पर कोई चलता हुआ फतवा न देकर, हम अनुभव करेंगे, उसकी कथा सुगठित तथा रोचक है। वह पाठक को भली भाँति रमाती है, और पाठक उसकी विविध स्थितियों तथा पात्रों की मन स्थितियों से सहज अपने-आपको जोड़ता या 'आइडेंटीफाई' करता है। उनके प्रभाव को गहराई से ग्रहण करता है और उन्हें चाहने पर भी भुला नहीं पाता। रही 'झूठा सच' की भाषा-शक्ति की बात। यशपाल को ठीक कहा गया है कि वे भावुक नहीं वरन् संवेदनशील लेखक हैं। इसीलिए, उनकी भाषा में चतुरसेन शास्त्री या पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र' जैसा भाववेग नहीं। वे नितांत नि:संग मुद्रा में ठंडक से, स्थिति को क्रम-क्रम से, सीधे सरल दीखने वाले वाक्यों में बताते चलते हैं। किंतु, उनकी भाषा, जैसी ऊपरी दृष्टि से दीख पड़ती है, वैसी है नहीं। उसके तल में उपान्यासकार की प्रखर आलोचनात्मक दृष्टि और तज्जन्य अति सूक्ष्म व्यंग्य निरंतर ध्वनित होता चलता है। वे जताते चलते हैं कि मनुष्य जो कुछ अकरणीय बेखटके कर चला है, उसके मूल में निहित उसके अहम् और स्वार्थ की जड़ता है, जिसमें भले ही वह भूला हो, किन्तु पाठक सहभागी नहीं हो सकता। इसीलिए यशपाल की भाषा में ऊपरी 'सपाटपन', ठंडक, और आवेगहीनता दीख पड़ती है। यह उसकी सीमा नहीं, अपूर्व शक्ति है। अपनी इस लेखन-शैली के बल पर वे हिंदी उपन्यासकारों में अलग पहचान रखते हैं।

यशपाल के उपन्यासों का प्रमुख स्वर व्यंग्य और अवसाद का है। व्यंग्य का अर्थ है — विषमता का प्रखर बोध। व्यंग्य में रचयिता प्रस्तुत स्थिति को 'सादगी' से

NMDC-088

चित्रित करते हुए, उसमें निहित विसंगतियों पर कटाक्ष कर, उनके प्रति पाठक में आलोचनात्मक दृष्टि जगाता है। यशपाल के व्यंग्य में सचेष्टता नहीं है, उसमें कटुता मुखर नहीं हो पाई है। वह कटुता अंतर्मुखी होकर सामाजिक जीवन की विषमताओं और परिणामों के चित्रण में ढल गई है। यशपाल मनुष्य की अस्तित्व-रक्षा तथा विकास के लिए समाज का होना आवश्यक मानते हैं। सामाजिक व्यवस्थाएँ कालानुसार जब व्यक्ति से विमुख होकर, रूढ़ रूप धारण कर लेती हैं और मानव-जीवन की साधक न रहकर, बाधक बन जाती हैं, यशपाल उस समय उन्हें बदल देना उचित समझते हैं। वे साम्यवादी विचारधारा से प्रभावित हैं और तत्संबंधी दृष्टिकोण एवं मान्यता का प्रचार करना अपना कर्तव्य मानते हैं। जिन रचनाओं में उनकी साम्यवादी विचारधारा प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति नहीं पा सकी है, वहाँ उनका मार्मिक व्यंग्य-प्रभाव देखते बनता है। कला की दृष्टि से ऐसे उपन्यास यशपाल की उत्कृष्ट देन हैं। उनके 'दिव्या' और 'अमिता' उपन्यास ऐतिहासिक वातावरण पर आधारित होने के कारण आधुनिक साम्यवादी सिद्धांतों का स्पष्ट प्रचार करने में असमर्थ हैं। उनमें साम्यवादी दर्शन केवल मानवतावादी जीवन-मूल्यों के रूप में अभिव्यक्ति पा सका है। इसी प्रकार, 'झूठा सच' के प्रथम भाग (वतन और देश खंड) में देश के विभाजन की हृदय को कँपा देने वाली भीषण, वीभत्स, करुण, ऐतिहासिक महत्व की घटनाओं की प्रधानता होने के कारण, लेखक को, वहाँ अपने मतों के प्रत्यक्ष प्रचार का अवकाश नहीं मिला है। इस उपन्यास में मानवीय मनोवृत्तियों की विसंगतियों पर सूक्ष्म व्यंग्य करने में उपन्यासकार को असाधारण सफलता प्राप्त हुई है। शेष उपन्यासों में, यशपाल का व्यंग्य राजनीतिक आग्रहयुक्त होने के कारण उस प्रकार का मर्मस्पर्शी प्रभाव डालने में अधिक समर्थ नहीं।

हम अन्यत्र भी कह आए हैं। यशपाल सामाजिक संगठन और व्यवस्था का मूलाधार अर्थ को मानते हैं। मानव-जीवन को सुरक्षित एवं गतिशील बनाए रखने के लिए उसके खाने, कपड़े, रहने आदि की समुचित व्यवस्था करना अनिवार्य है। इन सब आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए श्रम की अपेक्षा है। समाज में श्रमिक को उसके श्रम का सही मूल्य मिलना चाहिए। सभी प्रकार की आवश्यकताओं की पूर्ति का माध्यम, धन, श्रम से प्राप्त किया जा सकता है। यशपाल ऐसी व्यवस्था को देश में लाना चाहते हैं, जिसमें धन श्रम से ही कमाया जा सके। केवल धन द्वारा, युक्तिपूर्वक जहाँ श्रमिकों का शोषण करके, धन कमाया जाता है और जहाँ धनिक उत्तरोत्तर

NMDC-088

अधिक धनी तथा निर्धन अधिक निर्धन होता जाता है, वह व्यवस्था पूँजीवादी है। संक्षेप में, श्रमिक को उसके श्रम का उचित मूल्य दिलाना तथा पूँजी के अनुचित संग्रह को रोकना, साम्यवाद का मूल उद्देश्य है। यशपाल इस व्यवस्था की स्थापना के लिए प्रत्यक्ष जीवन के मूल्यों को ही स्वीकार करते हैं। जीवन के अप्रत्यक्ष भावनात्मक मूल्यों की सत्ता उनके निकट नगण्य है। धार्मिक विश्वासों, सांस्कृतिक परंपराओं, स्त्री-पुरुष की प्रणय-भावना आदि में यशपाल की न आस्था है, और न रुचि। उन्होंने अपनी भौतिक मान्यताओं की स्थापनाओं के लिए तथा मानवीय भावनात्मक संबंधों को निष्प्राण सिद्ध करने के लिए उपन्यासों में प्राय: प्रणय-संबंधों एवं वैवाहिक बंधनों पर निर्मम प्रहार किए हैं। ये संबंध पाठक के चिर-परिचित हैं, उसके हृदय के अत्यंत निकट हैं, इन्हें नष्ट-भ्रष्ट होते देखकर वह अवसाद से भर उठता है। अवसाद से आशय है, भाव की सहज परिपुष्टि के अभाव में, मन पर छा जाने वाली थकान और उदासी। 'झूठा सच' की समस्त कथा में उपन्यासकार मनुष्य के स्वभाव तथा सामाजिक विसंगतियों पर व्यंग्य करता चलता है। और, इस सब विरूपता को परिलक्षित कर पाठक का मन खिन्नता और अवसाद से भर उठता है।

उपन्यास का प्रारंभ लाहौर की भोला पांधे की गली के निम्न मध्यमवर्गीय समाज को लेकर होता है। देश को स्वतंत्रता मिलने वाली है, देश-विभाजन के संबधं में स्थिति अभी स्पष्ट नहीं हो पाई है। इस गली के जीवन-चित्रण के अंतर्गत उपन्यासकार ने स्थानिक रीति-रिवाजों का सटीक परिचय दिया है। यहाँ के निवासियों की बोली के लहजे तथा पारस्परिक व्यवहार की सूक्ष्मतम विशेषताओं को भली भाँति उभारा गया है। यशपाल ने रीति-रिवाजों को प्रस्तुत करते समय, उनके सामाजिक जीवन-चित्रण का अनिवार्य अंग होने के कारण, उन पर ध्यान दिया है। उन्होंने सामाजिक परंपरा की देन — इन रीतियों में प्रेमचंद, वृंदावनलाल वर्मा, अमृतलाल नागर की भाँति रस नहीं लिया है, वरन् जहाँ अवसर पाया है, इनकी निस्सारता पर व्यंग्य ही किया है। उपन्यास का आरंभ रामज्वाया तथा रामलुभाया की माँ की मृत्यु के स्यापे से होता है। लेखक ने दिखाया है, 'स्यापा विशारद' कौलाँ स्त्रियों के स्यापे का नेतृत्व कर रही है। स्यापा के समय स्त्रियों की जाँघों, छातियों और गालों पर चोट करने के क्रम पर लेखक की टिप्पणी है, "आँखें मूँदकर अथवा दीवार की ओट से सुनने पर जान पड़ता था, मानो मैदान में बहुत सधे हुए सिपाही मार्च, मार्क-टाइम और क्विक मार्च कर रहे हों।" इस प्रकार, "बुढ़िया के

NMDC-088

जीवन-काल में उसके प्रति जो भी उपेक्षा हुई थी, उसे मृत्यु के उपरांत प्रतिष्ठा से पूरा किया जा रहा था।'' ऐसे ही, बच्चे के मुंडन पर एक पात्र टीका करता है — "इतने सुंदर लड़के की शकल कोरी हाँडी जैसी बना दी।'' बच्चे के नामकरण के उत्सव के उपरांत साम्यवादी पात्र असद, मानो रीतियों पर लेखक का दृष्टिकोण इन शब्दों में व्यक्त करता है—"यह छोटे-छोटे रीति-रिवाज और विश्वास हम लोगों को किस प्रकार एक-दूसरे से पृथक् किए हुए हैं? क्या इन्हें निबाहते जाना ही परंपरा की रक्षा है।?''

भीषण सांप्रदायिकता के आर्थिक निहितार्थ

अब हम 'झूठा सच' के प्रमुख अंश, प्रथम भाग, के मुख्य कथा-सूत्रों और उसके सर्वाधिक उल्लेखनीय विचार-बिंदुओं पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे। यह कार्य इस उपन्यास की मूल देन को रेखांकित करेगा। भोला पांधे की गली में मकान की ऊपरी मंजिल में रहने वाले स्कूल मास्टर रामलुभाया के सफेदपोश, शिक्षाप्रेमी, निम्नमध्यवर्गीय परिवार की और उसके आसपास के जीवन की उपन्यास में कथा है। रामलुभाया का बड़ा पुत्र जयदेव पुरी और छोटी पुत्री तारा है। दोनों सुशिक्षित हैं। पुरी सन् 1942 के 'भारत छोड़ो आंदोलन' के प्रसंग में कई वर्ष जेल हो आया है। वह विचारा धारा से कांग्रेसी है। अच्छा कहानी-लेखक है और रोज़ी कमाने के लिए उर्दू पत्रकार हो जाता है। उसकी कहानियों और लेखों की प्रशंसा होती है, किंतु रुपयों के रूप में जो मिल पाता है, वह नगण्य है। अभावग्रस्त पुरी का इस विषय में चिंतन सारगर्भित है : "पुरी सोचता — क्या साहित्य और कला का इतना ही उचित मूल्य है? कम-से-कम चार-पाँच हज़ार आदमियों ने मेरे लेखों को पढ़ा होगा। उसके तर्क ने कहा — इससे अधिक क्या आशा करोगे? मेरे लेख केवल पाठकों का विनोद ही तो करते हैं। विनोद का मूल्य और कितना होगा? संभव है, यदि मैं भी सर्व-साधारण का विनोद करने वाले मदारियों की तरह, चहारदीवारी बाहर के बाग में अपने लेख और कहानियाँ सुनाऊँ तो लोग पैसा-पैसा, दो-दो पैसा मेरी झोली में फेंक दें। उस अवस्था में शायद मुझे प्रति लेख या कहानी के लिए पचास रुपए मिल सकें; परन्तु सफेदपोश होकर ऐसा काम कैसे कर सकता हूँ!... ..... वह मन-ही-मन मुस्कराया — साधनहीन होकर भी सम्मान चाहता हूँ! इसी का फल भोग रहा हूँ। साधन होने पर तो सम्मान खिंचा चला आता है। मुझे अपनी रचनाएँ पत्रों को बेचनी पड़ती हैं और पत्र उन्हें ग्राहकों को बेचते हैं।

NMDC-088

'पुरी निराशा में सोचता—क्या भूखा व्यवसाय मैंने चुन लिया है! कलाकार और लेखक का यश पोला ढोल होता है, जिसकी गूँज दूर तक जाती है परंतु भीतर पोल रहती हैं।'

पुरी जी-जान से जुटकर अनुवाद और लेखन-कार्य के फलस्वरूप कुछ न पा सकने पर सोचने को विवश है कि 'उस कला का क्या मूल्य जिसका कोई ग्राहक नहीं?'

जयदेव पुरी के आदर्शवाद और स्वाभिमानी व्यक्तित्व से उसके संपर्क में आई हुई उच्चवर्गीय, आवेगशील युवती कनक उसके प्रति आकृष्ट हो जाती है। कनक के आकर्षण के मार्ग में उसके पिता तथा बड़े बहनोई के विरोधी विचार आते हैं। वे समझते हैं कि निम्नवर्गीय आर्थिक स्थिति तथा साधारण कद-काठी का युवक जयदेव कनक और उसके पिता के परिवार के अनुकूल नहीं। यह तनाव कथा को रोचक विकास देता है। मनस्विनी कनक इन बाधाओं के सामने आने पर और भी दृढ़ मनोरथ हो जाती है। पहले ज़माने में युवकों और युवतियों का समाज, विवाह से पूर्व बिलकुल अलग-अलग होता था। उसमें उनके परस्पर निकट आने के अवसर लगभग नहीं होते थे। किंतु, शिक्षा की नई लहर आने से इस प्रकार का बँटवारा उनके बीच नहीं रहा। दोनों आपस में खुलकर मिलते हैं। इस प्रकार, खुलकर मिलने से उनमें पारस्परिक आकर्षण, भावुकता और प्रेम की तीव्र लालसा जगती है। यह उनके जीवन का कल्पना और रोमांस-प्रधान रूप है। आगे चलकर यथार्थ के थपेड़े खाने पर उसका असली रंग-रूप उभरता है। इसीलिए कनक और जयदेव का आवेगमय प्रेम उपन्यास के दूसरे खंड में अंततः विचित्र रुख अपनाता है।

रामलुभाया के परिवार की दूसरी कथा चलती है, जयदेव की बहिन तारा के माध्यम से। तारा सुंदर और सुघड़ है; वह बी.ए. की छात्रा है। उसका विवाह संपन्न घराने के दोहाजू सोमराज से निश्चित कर दिया जाता है। सोमराज की छवि समाज में आवारा तथा स्वेच्छाचारी युवक की है। तारा इस संबंध को स्वीकार नहीं कर पाती। उसका आकर्षण, कम्युनिस्ट पार्टी के प्रबुद्ध कार्यकर्ता मुस्लिम असद के प्रति है। किंतु, इस संबंध के विकसित होने में अड़चनें ही अड़चनें है। असद पहले, पार्टी के कार्यक्रम के प्रति निष्ठावान है। वह देश-विभाजन के नाजुक अवसर पर प्रेम और विवाह का प्रकरण लाकर हिंदू-मुस्लिम-विवाद को जन्म नहीं दे सकता है। तारा का भाई जयदेव, जो कनक से स्वयं अपने प्रेम के प्रसंग में सामाजिक बंधनों

NMDC-088

से स्वच्छंदता लेने के प्रबल पक्ष में है, तारा और असद के प्रेम या विवाह की चर्चा तक नहीं सह सकता। उसकी उदारता केवल अपने लिए है।

विभाजन विषयक सांप्रदायिक दंगों के आतंक के बीच, लाहौर में, तारा का विवाह उसकी इच्छा के विरुद्ध सोमराज से हो जाता है। सुहागरात को सोमराज तारा की अपने से विवाह की अनिच्छा के प्रसंग को छेड़कर उसे गालियाँ देता और पीटता है। रात्रि में सांप्रदायिक दंगा छिड़ जाता है। तारा पति के अत्याचार से मुक्त होने के लिए घर से लगी गली में कूद पड़ती है। एक मुस्लिम गुंडे के हाथों पड़कर उसके यौन अत्याचार का शिकार होती है। फिर वह एक मज़हबी हाफिज़ जी के परिवार में पनाह पाती है। उसे बहला-फुसलाकर वे मुस्लिम बनाना चाहते हैं। और, विफल मनोरथ होकर उसे अन्य भगायी हुई औरतों के पास कैद में भिजवा देते हैं। कैद के जीवन का अभाव और पीड़न रोंगटे खड़े कर देने वाला है। विभाजन के अवसर पर, विशेषकर नारी पर हुए अत्याचारों का यह सर्वाधिक रोमांचकारी दृश्यांकन है। यहाँ मनुष्य या नारी को निरीह पशु के रूप में अत्याचार, शोषण, सभी कुछ सहकर जीने को विवश किया जाता है। संयोगवश, एक रक्षक टुकड़ी तारा आदि बंदी नारियों को छुड़ाकर शरणार्थी कैम्प में ले जाती है। वहाँ से तारा बस द्वारा 'भारत' की यात्रा करती है।

उपन्यास यह कटु तथ्य निरंतर ध्वनित करता चलता है कि जन-साधारण की मानसिकता में धर्म या मज़हब की सांप्रदायिकता, राष्ट्रीयता, यहाँ तक कि मानवता के मूल बंधनों से भी कहीं ऊपर है। और मनुष्य कहाने वाला प्राणी इस जनून में जुल्म ढाते समय पशुओं को भी पीछे छोड़ जाता है। प्रबुद्ध लाचार व्यक्ति के रूप में तारा के जीवन की त्रासदी है। वह अपने ऊपर गुज़री हुई के विषय में निष्कर्ष पर आती है–'जो कुछ उसने सोचा, कभी न हुआ। हुआ वही जो कभी न सोचा था, जिसकी कभी कल्पना नहीं थी।'

'झूठा सच' का प्रथम भाग 'वतन और देश' सांप्रदायिक दंगों के भीषण स्वरूप के सांगोपांग चित्रण में बेजोड़ उपन्यास है, यह हम पहले कह आए हैं। इस प्रसंग में कथा के बीच डूबते-उतराते तो विशेष विचारणीय प्रकरण हैं, उनका संक्षिप्त विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है। लाहौर में अधिकांश मुस्लिम वर्ग पाकिस्तान बनाने के पक्ष में है। इस योजना में उसे स्वर्णिम भविष्य के दर्शन होते हैं। सिखों के नेता मास्टर तारासिंह तथा कांग्रेस के नेता गोपीचंद भार्गव योजना का

NMDC-088

अपने-अपने ढंग से विरोध करते हैं, और मुसीबत सिर पर आ पड़ने पर अदृश्य हो जाते हैं। स्थिति ने जो विकट रूप धारण कर लिया है, वह असद के शब्दों में, यों समझी जा सकती है : "अंग्रेजों ने कम्युनल बेसिस (सांप्रदायिक आधार) पर चुनाव की नीति चलाई थी। उसका फल अब पका है। इस झगड़े का फैसला या तो आपसी समझौते से हो सकता है या तारासिंह और अलामामशरिकी की तलवारों से होगा। इसका मतलब है, पंजाब से या तो हिंदू ख़त्म हो जाएँ या मुसलमान; या हमेशा के लिए अंग्रेज़ों की हुकूमत रहे.....।'' उपन्यास में अंतत: यही घटकर रहता है। वहाँ से हिन्दू लोग भगाए, या मारे जाते हैं।

भोला पांधे की गली का सर्वप्रिय हँसमुख दौलू मामा, विशेषकर बच्चों के मनोरंजन और आकर्षण का केन्द्र रहा। सांप्रदायिक जनून में कोई छुरा मारकर उसकी हत्या कर देता है। उसके विषय में मास्टर रामलुभाया की सही टिप्पणी है: "इस आदमी को लोभ नहीं था, किसी से ईर्ष्या नहीं थी, सभी को अपना समझता था। यही तो सच्ची ईश्वरभक्ति है।'' उसकी मृत्यु पर पीड़ित जयदेव की अपने समाचार-पत्र में संपादकीय टिप्पणी है–"दौलू मामा ! तुम लाहौर की कितनी गलियों के कितने बच्चों के मामा थे। तुम उम्रभर रोज़ाना सैकड़ों बच्चों को हँसा-हँसाकर आज उन्हें फूट-फूटकर रोते छोड़ गए हो। इन भोले बच्चों का खिलौना किस ज़ालिम ने छीन लिया? मामा किसका दुश्मन था?.. दौलू मामा ने एक खाट की जगह के लिए भी, एक रोटी के लिए भी किसी से झगड़ा नहीं किया। वह किसकी वज़ारत और रियासत की राह में रुकावट बन रहा था?''

घायल दौलू कछ समय अस्पताल में रहकर जब चल बसता है, तो जयदेव उसके सार्वजनिक मूक शोक के विषय में सोचता है–'मरने वाला तो चला जाता है। समवेदना और शोक, मर ज़ाने वाले के संबंधियों के प्रति प्रकट किया जाता है; परंतु दौलू मामा की मृत्यु पर शोक किसी दूसरे के प्रति शिष्टाचार या सहानुभूति में नहीं प्रकट किया जा रहा था। वह सभी का अपना शोक था। वह सभी का अपना था। मामा किसी का न होकर भी सभी का अपना था।''

सांप्रदायिक उथल-पुथल के कारण चारों ओर तबाही मची हुई है। जयदेव का इस विषय में तटस्थ चिंतन स्थिति की उपयुक्त समीक्षा है — "लाखों आदमियों का समाज उसके विचार से नहीं चल सकता था। मानव मधुमक्खियों का छत्ता जाने किस सामूहिक प्रेरणा से चल रहा था। उस सामूहिक मार्ग से भिन्न मार्ग किसी

NMDC-088

व्यक्ति के लिए अपना लेना संभव न था। इस समूह में सभी को अपनी-अपनी चिंताएँ भी थीं।''

उपन्यास के विवेचन के अंत में विभाजन के मूल में निहित समस्या को उजागर करने वाले दो तथ्य उल्लेखनीय हैं। सांप्रदायिक दंगों की विभीषिका देखकर लगता है, राष्ट्रीयता और मानवता के ऊपर मज़हब का पागलपन है। किन्तु, यह पागलपन भी, देखने-दिखाने की वस्तु अधिक है। उसकी तह में मनुष्य का स्वार्थ, ठेठ स्वार्थ है। हाफ़िज जी जब तारा को मुस्लिम बनाने के प्रयत्न में विफल होते है, तो उनका सीधा-सादा मुँहफट पुलिस ऑफीसर पुत्र अमजद तत्व की बात माँ से कहता है — "अब्बा को तो फिक्र परेशान किए है कि जन्नत उजाड़ रह जाएगा। अगर पंजाब के सभी हिंदू मुसलमान बनकर यहाँ ही बैठे रहते तो गरीब मुसलमानों को क्या फायदा होता?'' यह बात बाद के इतिहास ने सिद्ध की है। भारत से जो मुसलमान बड़े उत्साह से पाकिस्तान जा बसे थे, उनका वहाँ के मुसलमानों ने खुले हाथों स्वागत करने के बदले तिरस्कार और बहिष्कार किया है। वे अपनी रोटी में किसी दूसरे को साझी क्यों बनाएँ? उनकी संकीर्णता और स्वार्थपरता ने आगतुक मुस्लिमों को 'महाजिर' नाम दिया है।

'झूठा सच' (वतन और देश) के अंत में हिंदू शरणार्थियों का सार्थ जब पाकिस्तान की सीमा, कठिनाइयों और वीभत्स दृश्यों से गुज़रकर, पार करता है, तो बस का सिख ड्राइवर मानो स्थिति पर निष्कर्षात्मक टिप्पणी प्रस्तुत करता है। वह पंजाब में हिंदू-मुसलमान के मध्य वर्तमान आर्थिक तनाव को स्पष्ट करता है — "बहिन जी, सच है, मुसलमानों ने हिंदुओं को लूटा है पर हिंदू सैकड़ों बरस से इन लोगों को लूटते, निचोड़ते चले आ रहे है; नहीं तो एक ही ज़मीन पर रहने वालों में अमीरी, ग़रीबी का इतना फरक क्यों होता? पंजाब की सब जायदाद हिंदुओं के ही हाथों क्यों चली जाती? गरीब पहले गुस्से में मुसलमान हुआ, दूसरा गुस्सा यह है। गुस्सा मज़हब का भी है पर ग़रीबी का भी है बहिन जी!''

अब हम 'झूठा सच' के महाकाव्यात्मक उपन्यास होने की संभावनाओं पर तनिक विस्तार से विचार करेंगे।

महाकाव्यात्मक उपन्यास

यहाँ उपन्यास और महाकाव्यात्मक उपन्यास की विशेषताएँ विचारणीय हैं। उपन्यास में मूलत: पात्रों का चरित्र-विकास रहता है। इसे जैसा विस्तार या आयाम दिया

NMDC-088

जाता है, उसी के अनुसार उपन्यास का कलेवर घटता-बढ़ता है। विविध आकार वाले उपन्यास इस दृष्टि से क्रमशः लघुकाय उपन्यास, उपन्यास तथा महाकाय उपन्यास कहे जा सकते हैं। प्रवृत्ति की दृष्टि से इनमें अंतर विशेष नहीं, महाकाव्यात्मक उपन्यास महाकाय तो होता ही है, साथ ही, उसमें प्रवृत्तिगत कुछ अन्य विशेषताएँ होती हैं। हिंन्दी में महाकाव्यात्मक उपन्यास से अधिक नहीं, किंतु जो हैं, उनका स्वरूप समझने के लिए कुछ चर्चित उपन्यासों की विशेषताओं की तुलना यहाँ प्रासंगिक है।

हिंदी में महाकाव्यात्मक उपन्यास की चर्चा सर्वप्रथम नन्ददुलारे वाजपेयी ने 'गोदान' संबंधी अपने निबंध में की। उन्होंने कहा है कि राष्ट्रीय संस्कृति के विकास में विभिन्न युगों के प्रतिनिधि महाकाव्य तो हो सकते हैं, परंतु युग का प्रतिनिधि उपन्यास कठिनाई से मिलेगा। उपन्यास में सामाजिक जीवन के बाह्य स्वरूप को चित्रित किया जाता है। ऐसा उपन्यास शायद ही मिले, जिसमें बाह्य सामाजिक जीवन के किसी युग-विशेष का संपूर्ण चित्र दिखाया जा सके। तोल्स्तोय के विशद आकार वाले सुप्रसिद्ध उपन्यास 'युद्ध और शांति' को राष्ट्रीय उपन्यास या महाकाव्यात्मक उपन्यास की संज्ञा दी गई है। अपने बिखराव के बावजूद यह उपन्यास युद्ध की परिस्थिति का वर्णन और शांति काल में रूस की सामाजिक व्यवस्था का चित्रण करने में समर्थ हुआ है।

वाजेपयी 'गोदान' में महाकाव्यात्मक उपन्यास के गुण नहीं पाते। उनके अनुसार, इसका कथानक सीधा-सादा है। यह ग्रामीण जीवन के दैन्य और सामाजिक वैषम्य को प्रदर्शित करने के कारण करुण रस-प्रधान है। इसमें भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की गतिविधि का चित्रण न होने के कारण वीर रस का अभाव है। 'गोदान' में नागरिक जीवन का प्रामाणिक चित्र न पाने के कारण उन्होंने उपन्यास को राष्ट्रीय जीवन का प्रतिनिधि स्वीकार नहीं किया। उन्होंने महाकाव्यात्मक गरिमा न 'गोदान' के विस्तार में पाई है, न उसके चित्रण की गहराई में।

हमें देखना होगा कि उपन्यास के महाकाव्यात्मक विशेषण के प्रयोग से, वास्तव में, तात्पर्य क्या है। जिस प्रकार आम में किसी अन्य फल की कलम लगाते हैं, तो उसमें नई सुगंध और स्वाद आ जाता है, उसी प्रकार एक विधा में दूसरी विधा की कलम आवश्यकतानुसार लगने की संभावना रहती है। इस प्रक्रिया से मूल विधा को नई शक्ति मिलती है। ध्यान रखने की बात है कि कलम लगाते समय दूसरी विधा की

NMDC-088

सभी विशेषताएँ ज्यों-की-त्यों ग्रहण करना संभव नहीं। सारा आधार मूल विधा का रहता है, रहना ही चाहिए। उसमें अन्य विधा की प्रमुख विशेषताएँ केवल लाक्षणिक रूप में, सुगंध की भाँति अपनाई जाती हैं। महाकाव्य का गुण उपन्यास में जब सुगंध की भाँति बसाया जाता है तो इसका अर्थ है : जीवन के यथार्थ को पात्रों के चरित्र और कथा के विकास द्वारा पूरी व्यापकता तथा गहराई से ऐसे प्रस्तुत करना कि इसकी गहन छाप पाठक की चेतना पर, जीवन-भर, कुछ-न-कुछ बनी रहे। हमारा विनम्र निवेदन है कि महाकाव्य के लक्षणों को यदि विधिवत् परखने पर कमर कस ली जाए, तो अनेक सुप्रसिद्ध महाकाव्य अपने आसन से डगमगाते दीख पड़ें तो आश्चर्य नहीं। 'कामायनी' पर महाकाव्य के स्थूल लक्षण का निर्वाह करने की योजना हास्यास्पद जान पड़ेगी। ठीक है, 'गोदान' में किन्हीं कारणवश उस युग की संपूर्ण राष्ट्रीय चेतना का चित्रण नहीं हो पाया। उसका नागरिक जीवन भी अधूरा और काल्पनिक अधिक है। उसके ग्रामीण जीवन का सांस्कृतिक पक्ष भी कम उभरा है। भारतीय ग्रामीण जीवन के सांस्कृतिक तत्त्व से पूर्णत: अवगत होने के लिए ताराशंकर वंद्योपाध्याय का सुप्रसिद्ध वृहदाकार उपन्यास 'गणदेवता' पठनीय है। इन सब अभावों के बावजूद 'गोदान' का किसान होरी और गाँव के जीवन से संबंधित भाग महाकाव्यात्मक तत्त्व लिए है। इसमें भारतीय किसान के हारे-थके जीवन की सच्ची और संपूर्ण गाथा है। यह पाठक के मन को ऐसी गहराई से छूती है कि इसे भुलाया नहीं जा सकता। आज भी किसी जिज्ञासु, देशी या विदेशी पाठक के सामने औसत संघर्षशील भारतीय किसान का सच्चा वृत्तांत रखने के लिए 'गोदान' से बढ़कर कौन-सी रचना और है!

महाकाव्यात्मक उपन्यास की विधा के संबंध में तभी अधिक निश्चयपूर्वक कुछ कहना संभव होगा जब ऐसी अनेक रचनाएँ हिंदी में प्रतिष्ठित हों। अस्तु, यहाँ ऐसी एक रचना की चर्चा करके यह प्रकरण समाप्त किया जा रहा है। इस शताब्दी के छठे दशक के आसपास लखनऊ में स्थित हिंदी के तीन सुप्रसिद्ध उपन्यासकारों ने लगभग एक ही काल में तीन बड़े उपन्यासों की रचना की। इनकी अच्छी चर्चा हुई और हिंदी साहित्य में इनका स्थान सुरक्षित है। ये उपन्यास हैं 'बूँद और समुद्र' (अमृतलाल नागर), 'भूले-बिसरे चित्र' (भगवतीचरण वर्मा) तथा 'झूठा सच' (यशपाल)। तीनों उपन्यासों का आकार बड़ा है और तीनों ने ही वर्णन किए जाने वाले युग को अपने भीतर समेटने का भरसक प्रयत्न किया है। 'बूँद और समुद्र' में लखनऊ के पुराने मुहल्ले चौक के मध्यवर्गीय तथा निम्नमध्यवर्गीय समाज का अति विस्तार

NMDC-088

से चित्रण हुआ है। 'भूल-बिसरे चित्र' में एक कायस्थ परिवार की क्रमागत चार पीढ़ियों के माध्यम से देश और समाज की झलक देने का प्रयत्न है। इसमें उन्नीसवीं शताब्दी के अंत और बीसवीं के प्रारंभ के भारतीय युग का आंशिक चित्रण है।

'झूठा सच' इन तीनों महाकाय उपन्यासों में महाकाव्यात्मक उपन्यास की संज्ञा पाने का विशेष अधिकारी है। यह आकार में 1200 पृष्ठों से अधिक का है और दो जिल्दों में है। इसका विषय महाकाव्य जैसा विशद, गंभीर और मन पर गहरा प्रभाव छोड़ने वाला है। उपन्यासकार ने भारतीय जीवन की दो महान् अविस्मरणीय घटनाओं का इसमें पूर्ण मनोयोग से चित्रण किया है। ये घटनाएँ हैं, भीषण रक्तपातयुक्त देश का विभाजन तथा स्वतंत्रता-प्राप्ति के उपरांत देश का दसवर्षीय जीवन।

कहा जा चुका है, 'झूठा सच' के प्रथम भाग तथा द्वितीय भाग के पूर्वार्ध का विषय देश के विभाजन की भीषण दुर्घटना है। यशपाल ने असाधारण तटस्थता से तत्संबंधी अनेकानेक प्रकरणों की विराट् दृश्यमाला उपन्यास में सँजोयी है। दृश्य अपनी सजीवता के कारण पाठक के कल्पना-नेत्रों में साकार हो उठते हैं। अपनी स्पष्टता, तटस्थता, सुसंबद्धता तथा सर्वांगीणता के बल पर यह दृश्यावली इस राष्ट्रीय घटना के सजीव इतिहास के रूप में अविस्मरणीय एवं संग्रहणीय रहेगी। भारत-विभाजन का, मानवीय दृष्टि से, जब कभी कोई सच्चा इतिहास पढ़ना चाहेगा तो इस उपन्यास से बढ़कर उसे क्या सामग्री उपलब्ध हो सकेगी, कहना कठिन है। इसमें देश-विभाजन की भूमिका, विभाजन तथा उसके उपरांत दशा-कुदशा का पूरा ब्योरा है तथा समाज के सभी वर्गों एवं अंगों की क्रिया-प्रतिक्रिया का विशद अंकन है। 'झूठा सच' की विशद कथा के तल में पीड़ित मानवता का जो गंभीर स्वर है, वह पाषाण-हृदयों को भी स्तंभित करने और रुलाने की नैसर्गिक क्षमता रखता है।

NMDC-088

5. इतिहास/जो नहीं है और इतिहास जो है

निर्मला जैन

किसी रचना का महत्व और सार्थकता बहुत दूर तक इस बात पर निर्भर रहती है कि रचनाकार ने अपने समय और कथ्य के साथ किस तरह का रिश्ता कायम किया है। एक रचनाकार यथार्थ और देशकाल का सहयात्री भर होता है। उसकी रचना प्राय: परंपरा का बढ़ाव होती है और किसी हद तक परंपरा का विकास भी। परंतु एक दूसरा रचनाकार होता है जो अपने समय और कथ्य के साथ द्वंद्वात्मक या जुझारू संबंध स्थपित करता है। द्वंद्व की यह प्रकिया प्रश्नधर्मी होती है। प्रश्नशीलता रचनाकार के लिए देशकाल की सरहदों को पार करने की मजबूरी पैदा करती है। वह एक साथ अपने देशकाल के भीतर स्थित और बाहर गतिशील रहता है। स्थिति और गति के द्वंद्व में, इस रचनायात्रा में यथास्थितिवाद के लिए वह खतरा पैदा करता है। पहले से चली आती व्यवस्था टूटती है, ढाँचे चरमराते हैं, परंपरा उसके सामने चुनौती बनकर खड़ी हो जाती है और तमाम बुनियादी सवाल एक बार फिर नये सिरे से ताजा हो जाते हैं। सरोकार का दायरा सीमित होने पर सार्थक और प्रासंगिक रचनाएँ सामने आती हैं और व्यापक होने पर कालजयी कृतियों का सृजन होता है।

कृष्णा सोबती का 'जिंदगीनामा' ऐसी ही कालजयी रचना है जिसने उपन्यास के परंपरित ढाँचे को चुनौती दी है। मानवीय संबंधों में अंतर्निहित अंतर्विरोधों का गंभीर विश्लेषण जिस विराट फलक पर किया गया है वह स्वाधीनता पूर्व अखंड पंजाब की संस्कृति-कथा का सतही दस्तावेज प्रस्तुत नहीं करता। उसमें आद्यंत दिखायी पड़ने वाला सरोकार मानवीय नियति के संबंध में कहीं अधिक गहरा और बुनियादी सरोकार है। यह सरोकार गहरी पीड़ा से पैदा होता है – एक सांझी संस्कृति और जिंदगी के निर्ममतापूर्वक बीचोबीच चाक कर दिये जाने की पीड़ा से 'कौन जानेगा कौन समझेगा अपने वतनों को छोड़ने और उनसे मुंह मोड़ने के दर्दों की पीड़ों को। जेहलम चनाब बहते रहेंगे इसी धरती पर। लहराते रहेंगे खुली-डुली हवाओं के झोंके इसी धरती पर इसी तरह। हर रुत मौसम में इसी तरह बिलकुल इसी तरह। सिर्फ हम यहां नहीं होंगे। नहीं होंगे, फिर कभी नहीं होंगे, नहीं।'' (ज़िंदगीनामा)

NMDC-088

उपन्यास के आरंभ में कविता की ये पंक्तियाँ अपने वतन से, पुरखों की यादों से, नदी-नालों से, खेत-खलिहानों से, अलविदा कह चली लेखिका की भावभीनी श्रद्धांजलि भी है और वर्तमान की पीड़ा भी, शायद नॉस्टेलजिया भी।

वह बंटवारा एक भूखंड के, एक सांझी संस्कृति के दो कर दिये जाने की घटना भर नहीं है बल्कि वह बुनियादी गलती है, वह विष बेल है जो दोनों टुकड़ों में वर्षों के दौरान फूली-फली है। वर्तमान साक्षी है कि यह राजनीतिक बंटवारा पंजाब के किसी देहाती अंचल का पसारा भर नहीं है, 'रोज़मर्रा की घटनाओं का एक बेहद खूबसूरत कोलाज' भी वह नहीं है, दरअसल खूबसूरत वह है ही नहीं। वह एक निहायत तकलीफ़देह टूटन को झेलने की प्रक्रिया है। इतिहास गवाह है कि इस प्रक्रिया ने धर्म और सियासत के नाम पर अखंड संस्कृति को कुछ इस तरह तोड़ा है कि टूटने का यह अनवरत सिलसिला आज भी बीचोबीच चाक कर दिये गये उन दोनों टुकड़ों को तोड़ रहा है।

'ज़िंदगीनामा' की एक अपनी, विशिष्ट पहचान है जो उस उपन्यासवर्ग में आने वाली तमाम दूसरी रचनाओं से अलग व्यक्तित्व प्रदान करती है। सांझी संस्कृति का एक व्यापक परिदृश्य, एक लंबी परंपरा, पंजाब की धरती की माटी की महक, उसमें रसी-बसी लोक-कथाए, जिनके छोर एक ओर पुराणों को छूते हैं और दूसरी ओर विभाजन-पूर्व के लोक-जीवन को। लेखिका को यह सब कहीं गहरे उद्वेलित करता है। इस सांझी संस्कृति का सम्मोहन आज भी स्मृति में तमाम सूक्ष्म संवेदनों के साथ जीवित है – अपनी सर्वांगता में। इसी अर्थ में वह है "इतिहास/जो नहीं है और इतिहास/जो है।"

सांप्रदायिक दंगों की भयावहता, उनकी परिणामी स्थितियाँ, परिवर्तित मानवीय संदर्भ और संबंध – विभाजन के बाद के साहित्यकारों को बराबर उद्वेलित और प्रेरित करते रहे हैं। 'झूठा सच' जैसे विराट दस्तावेज़ से आरंभ होकर यह सिलसिला 'तमस' तक चला आया। उन उपन्यासों की दृष्टि विभाजन से जुड़े सांप्रदायिक दंगों के परिणामस्वरूप उत्पन्न होने वाली मानवीय स्थितियों पर केंद्रित है। विभाजन-पूर्व उस अंचल में धड़कती ज़िंदगी को पन्नों पर उतार ले आना उनका उद्देश्य नहीं है। इसीलिए 'ज़िंदगीनामा' की जाँच का केंद्रीय सरोकार यह नहीं हो सकता कि उसमें घटनाओं के बीच कार्य-कारण संबंध, उनके वर्णन, प्रमुख और प्रासंगिक संदर्भों का रिश्ता, चरित्र, अभिव्यंजना-शिल्प आदि कैसा है? इस रचना में एक

NMDC-088

विशेष भू-खंड की ज़िंदगी का बहाव कैद है। इसीलिए वह 'ज़िंदगीनामा' है क्योंकि उसमें विशेष जातीय जीवन का पूरा परिदृश्य साकार है। ज़िंदगी अपनी बहुरूपता में, मानवीय व्यवहार और रूप के असंख्य छवि-चित्रों को तमाम बारीक तफ़सील के साथ लिये-दिये उपन्यास के पृष्ठों में वड़कती है।

दरअसल इस उपन्यास का केंद्रीय चरित्र ही ज़िंदगी है। इतिहास, लोककथाएँ, किंवदंतियाँ, किस्से, लोक-गीत, दस्तावेज़ – सब इस केंद्रीय चरित्र में रंग भरते हैं। यह विराट चरित्र एक बहुत बड़े फलक पर अपने पूरे स्थानीय रंग के साथ गतिमान है। इस चरित्र के साथ लेखक का गहरा रिश्ता है, न जाने कितनी भाव-भीनी स्मृतियाँ इसके साथ जुड़ी हैं। इसीलिए आरंभ में रची कविता की पंक्तियाँ ही जैसे कवि-मन की संवेदनशीलता के साथ आने वाले पृष्ठों पर फैलती चली गयी हैं। विश्वनाथ त्रिपाठी ने सही कहा था कि " ज़िंदगीनामा' मूलत: किसी कवि-मन की रचना है। इसमें इतनी अछूती मार्मिक उपमाएँ हैं कि कोई प्रथम कोटि का कवि ही वैसा प्रयोग कर सकता है।'' अछूती मार्मिक उपमाएँ इसमें इसलिए भी हैं क्योंकि इसका विषय अछूता है, विशिष्ट है, सामान्य नहीं। वस्तु की वैयक्तिक स्वानुभूत अभिव्यक्ति ही इसके गीतात्मक विन्यास के कारण है। स्मृतियों ने रचनाकार को उद्वेलित किया है पर यह उद्वेलन उपन्यास के आवेश के रूप में नहीं, थिराये हुए आवेग के रूप में प्रकट होता है। वह लेखिका के अनुभव, उसकी स्मृति का टीसता हुआ हिस्सा बन गया है। इस रचना के माध्यम से बीते हुए कल को वह एक बार फिर जीने की कोशिश करती है। वस्तु-तत्व को उसकी भाषिक अभिव्यक्ति के साथ एक बार फिर महसूस करने की इसी रचनात्मक कोशिश का परिणाम है — 'ज़िंदगीनामा'।

जिंदगी की गति का, आचार-व्यवहार और संस्कृति का, हमेशा एक निश्चित तार्किक क्रम हो, यह कतई जरूरी नहीं। लेखक जब बेतरतीब जिदंगी के फैलाव से किन्हीं विशेष घटनाओं या प्रसंगों का चुनाव एक विशेष दृष्टिकोण से करता है तो वह मूल दृष्टि ही उन प्रसंगों को एक व्यवस्था में संयोजित करती है। इससे भिन्न एक दृष्टि वह होती है जो क्रमिक विकास-विस्तार या अन्विति साधने के बजाय जीवन की समग्रता, या बहाव को समेटकर सजीव, प्रामाणिक चित्र खड़े कर देती है। 'ज़िंदगीनामा' की मूल दृष्टि एकदम यही है। इसीलिए पाठकों ने उसमें 'कथा-प्रवाह का अभाव लेकिन जीवन प्रवाह पूरी लहर-बहर के साथ' देखा है।

NMDC-088

इसके ठीक विपरीत कुछ लोगों को यह रचना इसीलिए परेशान करती है कि इसमें 'सब कुछ क्रमहीन है, बेतरतीब है। 'घटनाओं का यादृच्छिक चयन और घट-बढ़ तथा विवरण' शायद उन्हें इसीलिए रास नहीं आते क्योंकि हिंदी के बहुत से विशालकाय लोकप्रिय उपन्यासों (भूले-बिसरे चित्र, अमृत और विष आदि) की तरह इस रचना के संक्षिप्त संस्करण नहीं निकल सकते। उन्हें इस कृति में 'केवल टुकड़ों का संग्रह' दिखायी देता है। अगर ये टुकड़े ही क्रमहीन और बेतरतीब हैं तो फिर किन्हीं टुकड़ों को निकालकर इसका संक्षिप्तीकरण आखिर क्यों संभव नहीं है? और अगर इसका या किसी भी उपन्यास का संक्षिप्त संस्करण, बिना मूल कथ्य को क्षति पहुँचाये संभव है तो फिर उस उपन्यास के वस्तु-विन्यास की कसावट प्रश्नातीत कैसे होगी? और फिर सवाल यह भी तो है ही कि आखिर सभी उपन्यास पाठ्यक्रमोपयोगी विद्यार्थी-संस्करण की संभावना को रचना की शर्त मानने पर विवश क्यों हो?

'ज़िंदगीनामा' पिछले कुछ वर्षों में रचित उपन्यासों में शायद सबसे अधिक चर्चित और सबसे अधिक विवादास्पद रचना है। दिलचस्प बात यह है कि इस कृति में दो विशेषताओं ने ही पाठकों को अक्सर चौंकाया हैं– इसका वस्तु-तंत्र और इसकी भाषा। भाषिक स्तर पर निश्चय ही यह एक प्रयोग है — ऐसा सायास प्रयोग जिससे बचना लेखिका के बस की बात नहीं थी, क्योंकि इस रचना से जो प्रभाव वह पैदा करना चाहती है, भाषा भी उसका एक माध्यम, और समर्थ माध्यम है। यह मुमकिन हो सकता था कि किसी दूसरे रचनाकार ने इस प्रभाव की सिद्धि किन्ही और साधनों से की होती– पर इतना तय है कि लेखिका ने सांप्रदायिक दंगों की भयानकता तथा विभाजन की दुर्घटना से उत्पन्न जिस गहरी पीड़ा का चित्रण किया है उसके लिए इस पंजाबी लहजे और शब्दावली की अपनी सार्थकता है।

वस्तुत: इस सवाल को लेखकीय सरोकार से अलग देखा ही नहीं जा सकता। इस उपन्यास की चिंता राजनीतिक नहीं, मानवीय है। सरोकार का क्रम उलट भी सकता था। सामाजिक स्थितियों के मूल में सक्रिय राजनीति की निजी पहचान और समझ में पाठक को साझेदार बनाना यदि उपन्यास का लक्ष्य होता, तो 'उखड़े हुए लोग' या फिर 'तमस' के ढंग के उपन्यास की आशा की जा सकती थी। परंतु जब राजनीति केंद्रीयस्थित होकर भी रचनात्मक स्तर पर उतनी ही दूर तक प्रासंगिक हो जितनी दूर तक वह सामाजिक परिदृश्य को ठोस परिस्थितिगत आधार देने के काम आये, तब 'मैला आँचल', 'परती परिकथा' या 'ज़िंदगीनामा' जैसी रचनाएँ सामने आती हैं। ऐसे उपन्यासों में लेखकीय संवेदना का केंद्र जीवन, उसका

NMDC-088

आचार-व्यवहार, उसके अंतर्विरोध, उसकी पीड़ा — यानी समूचा सांस्कृतिक परिदृश्य होता है। ऐसी रचनाओं में घटनाओं का क्रम प्राय: तार्किक नहीं होता। चरित्रों और प्रसंगों की भरमार होती है। ये सब मिलकर जीवन के एक खंड की आंचलिकता को उसकी जातीय विशेषताओं के साथ मूर्त करते हैं — और ऐसी स्थिति में रचनात्मक प्रक्रिया में भाषा की भूमिका अत्यंत महत्वपूर्ण हो जाती है। लेखक उस भू-भाग के जीवन के बीचोबीच उतरकर उसे परिदृश्यात्मक विस्तार के रूप में ही नहीं, भाषिक-व्यवहार के रूप में भी जीने का प्रयत्न करता है। भाषा अभिव्यक्ति का माध्यम तो होती ही है, जीने का तौर-तरीका, आचार-व्यवहार की पहचान भी होती है। लेखक के रचनात्मक व्यक्तित्व और उसकी वस्तु के बीच स्थापित संबंध की प्रकृति और प्रक्रिया की पहचान का एक महत्वपूर्ण और नाजुक अस्त्र भी उसकी भाषा होती है। वह जीवन को और बातों के अलावा भाषा के जरिये भी पहचानता है और उससे रिश्ता कायम करता है। पहचान कायम करने की यह प्रक्रिया प्राय: द्वंद्वात्मक होती है। जब उसकी वस्तु समकालिक नहीं होती तब यह प्रक्रिया और भी जटिल हो जाती है। रचनाकार देशकाल का अतिक्रमण करके वस्तुगत अनुभव का अर्जन करता है। अर्जित अनुभव की प्रामाणिकता ऐसी स्थिति में प्राय: प्रश्नातीत नहीं होती। पात्रों का भाषिक व्यवहार भी उसके लिए पहले ज्ञानार्जन का और फिर अनुभव का विषय बनता है।

वह आकस्मिक नहीं है कि 'ज़िंदगीनामा' के भाषागत वैशिष्ट्य ने पाठकों का ध्यान बराबर आकर्षित किया है और अधिकांश लोगों को उसके प्रयोग में एक नाकाम या फिर एक सार्थक कोशिश दिखायी पड़ी है। इस भाषा में 'धरती की गंध', 'उन लोगों के व्यक्तित्व की महक', 'पंजाब की सांझी संस्कृति का रंग' और 'लंबी परंपरा की सूझ' देखने के बावजूद भीष्म साहनी को 'शब्दों में निहित सूक्ष्म संवेदनाओं को ग्रहण करने में भाषा रुकावट' मालूम होती है। महेंद्र भल्ला को उसमें 'पंजाबी और हिंदी आपस में टकराती हुई चलती' महसूस होती है। 'दो सहेलियों की तरह' गलबहियाँ 'डालकर नहीं' बल्कि 'अजनबियों की तरह अपने-अपने अलग अस्तित्वों के लिए लड़ती हुई।' उन्हें शिकायत है कि 'ये भाषाएँ परस्पर गुंफित नहीं हो पातीं' और इस तरह 'ज़िंदगीनामा' दोनों भाषाओं की जुगलबंदी की एक बहुत बड़ी परंतु असफल कोशिश होकर रह जाता है।

यह बात अलग है कि उसमें जिस भाषा का मेल है, वह गुजरांवाला की देहाती भाषा है या विभाजन से पहले के पंजाब की छ: आंचलिक भाषाओं में से एक अंचल की

NMDC-088

पंजाबी है। उसके शब्द-स्रोत की मिलावट में शब्दों का प्रतिशत-निर्णय भाषिक-विश्लेषणकर्त्ताओं की दिलचस्पी का विषय हो सकता है। औपन्यासिक प्रभाव की दृष्टि से प्रासंगिक बात इतनी ही है कि उसकी भाषा, कथ्य से कितनी अभिन्न है या कथ्य को उसकी समग्रता में संप्रेषित करने में कितनी दूर तक कारगर हो सकी है।

जिन पाठकों को भाषा की विशुद्धता की चिंता व्याकुल किए है उनकी समझ सहानुभुति का विषय ही हो सकती है। क्योंकि जब कथ्य और भाषा के बीच संबंध महत्त्वपूर्ण न रहकर भाषा की विशुद्धता की चिंता प्रधान हो जाये तो कथ्य और भाषा अभिन्न न रहकर स्वतंत्र इकाइयों के रूप में अलग-अलग परीक्षण का विषय हो जायेंगी। इस तर्क से आंचलिक यथार्थ को उसकी पूरी सचाई के साथ जीवित और मूर्त करने का एक बहुत महत्वपूर्ण अस्त्र रचनाकार के हाथ से निकल जायेगा। इस उपन्यास में भाषा की विशुद्धता, आभिजात्य या संस्कार की अपेक्षा उपहासास्पद ही कही जायेगी। दरअसल कथ्य से विच्छिन्न स्वायत्त रूप में भाषा की विशुद्धता या विकृति की जाँच-पड़ताल ही बेमानी है। किसी भी रचना में यह प्रश्न कथ्यानुसार, सहज, अनुकूल और प्रवाहमय भाषा का होता है, शब्द-स्रोत, व्याकरण सम्मत या विशुद्ध भाषा का नहीं।

जहाँ तक समझ का प्रश्न है, हर पाठक का अपना भाषा-संस्कार होता है। कृति में प्रवेश कर उसके समानांतर चलने के लिए उसे बराबर इस निजी संस्कार का अतिक्रमण करना पड़ता है। आंचलिक रचनाओं में तो और भी। तब यह प्रश्न कुछ हद तक उसकी सामर्थ्य का भी हो जाता है। एक वर्ग के पाठकों के लिए यदि 'जिंदगीनामा' की भाषा अवरोध उत्पन्न कर सकती है, तो दूसरे वर्ग के लिए 'मैला आंचल' या 'परती परिकथा' की। यही कठिनाई कुछ पाठकों के सामने 'कुरु कुरु स्वाहा' को लेकर भी आ सकती है। वस्तुतः इस बाधा का निरसन बहुत कुछ कृति के महत्व, उसके अपने रस, और उसके कथ्य के व्यवहार से संभव हो जाया करता है। घटनाओं के क्रम, पात्रों के व्यवहार, उनकी बोली-बानी के बीच बहुत-से अपरिचित, अप्रचलित शब्दों का अर्थ पाठक पर संदर्भ के अनुरोध से अनायास उद्घाटित होता चलता है, बशर्ते ये शब्द भाषा-व्यवहार के मध्य सहज प्रवाहित हों। कभी-कभी कठिनाई वहाँ होती है जहाँ संवाद-लय के बीच कुछ प्रयोग बरबस लाये गये यानी आरोपित हों। ऐसा शब्द भाषा के बीच विवादी स्वर की तरह अपने को प्रकट करता है। भाषा-प्रयोग में शुद्धि, विकृति, साहसिकता आदि के सारे

NMDC-088

सवाल दरअसल केवल भाषा-प्रयोग के सवाल हैं ही नही। इन तमाम बातों का गहरा संबंध विषय के चुनाव और उसे प्रस्तावित करने की दृष्टि से है। यह कठिनाई तब और दरपेश आती है जब रचना का माध्यम संवाद हो। वर्णन और ब्यौरों में किसी सीमा तक भाषा के साथ लेखकीय व्यक्तित्व का हस्तक्षेप सह्य और स्वाभाविक हो सकता है, परंतु संवादों की भाषा तो केवल जिंदगी का हस्तक्षेप झेल सकती है। आभिजात्य, शुद्धि, संस्कार के नाम पर जीवन की वास्तविकता को झुठलाना रचना के साथ एक ऐसा फरेब है जो तथाकथित विकृति, फूहड़पन या साहसिकता के विरुद्ध नाक-भौं सिकोड़ने से पैदा होता है।

गालियाँ, तथाकथित फूहड़ या विकृत प्रयोग जहाँ जिंदगी की ज़बान का महत्त्वपूर्ण अंग हों, वहाँ उनसे बचाव का ढोंग साहित्यिक सफेदपोशी के बनावटी उपक्रम से अधिक कुछ नहीं हो सकता। यदि रचना का जीवन-व्यवहार, उसके पात्र, उसका यथार्थ सफेदपोशी समाज तक सीमित न हों तो ऐसी स्थिति में भाषा की विशुद्धता की चिंता सहानुभूति का विषय ही हो सकती है।

'जिंद्गीनामा ' केवल सफेदपोश समाज की दास्तान नहीं है। उसमें एक भूखंड का समाज अपनी समग्रता में सबरंग विद्यमान है। इसलिए उसकी भाषा सिर्फ ज़िंदगी की बोलती धड़कती भाषा है, अपनी समूची लय, मुहावरेदानी और जिंदा शब्दावली के साथ सबरंग भाषा। "दूध-मक्खन की तरह दिल के दर्पण में भी बल आ जाये तो खयाल मैला हो ही जाता है"—जैसी मुहावरेदानी के सामने विशुद्धता और आभिजात्य के लिए किया शीर्षासन कितना निरर्थक हो सकता था, कहने की आवश्यकता नहीं। 'ज़िंदगीनामा' की भाषा ज़बाने खलक है। परेशानी उन्हें हो सकती है जिन्हें ज़बाने खलक को ज़बाने अदब मानने से परहेज हो। ऐसी स्थिति में यह सवाल 'ज़िंदगीनामा' की भाषा भर का नहीं रह जाता, साहित्य मात्र की भाषा हो जाता है। यूँ भी जहां औकात/न कलम की हो/ न लेखक की/ जिंदगी खुद-ब-खुद/फैलती चली गयी हो कागज़ के पन्नों पर/कुछ इस तरह/ज्यों धरती में उग आया हो/ गहरी जड़ों वाला विशाल जिंदा रुख—वहाँ जरूरत इस जिंदा रुख की गहरी जड़ों वाला में जाने की होनी चाहिए, पत्ते गिनने-पहचानने की नहीं। कहना न होगा ऐसे हर विशाल जिंदा रुख की गहरी जड़ों की पहचान की शर्तें भी अपनी होंगी—अकसर परंपरागत ढाँचों और बनी-बनायी लीक को चुनौती देती हुई।

NMDC-088

6. आंचलिक उपन्यास और जीवन-मर्म

परमानंद श्रीवास्तव

कृष्णा सोबती ने 'जिंदगीनामा' का पहला खंड (जिंदा रुख) लिखकर स्त्री-पुरुष सम्बन्धों के अपने अनुभव और पर्यवेक्षण को एक जाति-कथा के जीवन-मर्म की तरह सार्थक अभिव्यक्ति दी है। यह एक तरह के अनुभव का विस्तार है — एक गहरी जीवन-दृष्टि का प्रमाण। उसे अतीत का रोमाण्टिक मोह कह लें या शाह-परिवार जैसी सामंती व्यवस्था को महिमामंडित करने का प्रयास या नास्टेल्जिया। सबके लिए तर्क उपन्यास के ढाँचे में ही मौजूद है। पर इन सबसे महत्त्वपूर्ण है— जीवन का मार्मिक पाठ ! जिसके लिए पिछले दिनों उनकी कहानी 'ऐ लड़की' चर्चा में रही है। कम लेखक हैं जो जीवन-मर्म के पाठ के प्रति इतने सजग और पर्युत्सुक हैं। किस्सागोई का विलक्षण ठाठ तो यहाँ भी है पर एक-एक रूप या आकृति की पहचान के लिए खास तरह का जीवनधर्मी लगाव भी, जो दृश्य के गुजर जाने के बाद भी उसे स्मृति में देर तक टिकाकर रखता है। राबयाँ जिसका बड़े शाह के लिए प्रेम एक अनहोनी है, जब-जब दृश्य पर आती है कुछ अनिवार्य रूप से घट जाता है कि अन्त में बड़े शाह के वरण के उसके एकपक्षीय निर्णय को नकारते-नकारते भी अदृश्य स्वीकार सारे वातावरण पर भारी पड़ने लगता है। एक तरह से देखें तो हाशिए का-सा चरित्र। बहुतों में एक। अपनी भूमिका में मामूली-सी दिखने वाली। पर उसे हर बार जो गहरे अर्थ में सूफियों के ढंग की आन्तरिकता और आत्मा की चमक में सजीव दिखाया जा रहा है, वह क्या महज प्रासंगिक रूप वर्णन है! वह बड़े शाह का वरण करती है तो शायद इसलिए कि उनका ज्ञान भीतर-बाहर की रोशनी से जगमगाने लगता है ! शायद उपन्यास के समाजशास्त्र के पारखी विशेषज्ञों को यह आपत्तिजनक लगे कि मैं एक विस्तृत फलक वाले जाति-कथानक से एक मामूली पक्ष को अलग करते हुए एक तरह का गलत दुराग्रह प्रकट कर रहा हूँ। मैं इस संदर्भ को अभी यहीं छोड़ता हूँ।

उपन्यास के आरम्भ में कृष्णा सोबती ने कविता के-से टुकड़ों में कुछ संकेत दिये हैं-

इतिहास/जो/नहीं है
और इतिहास/जो है
वह नहीं

NMDC-088

जो हकूमतों की
तख्तगाहों में
प्रमाणों और सबूतों के साथ
ऐतिहासिक खातों में दर्ज कर
सुरक्षित कर दिया जाता है
बल्कि वह
जो लोकमानस की
भागीरथी के साथ-साथ
बहता है
पनपता और फैलता है
और जनसामान्य के
सांस्कृतिक पुख्तापन में
जिंदा रहता है

'जनसामान्य का सांस्कृतिक पुख्तापन' यही वह मुख्य बीज-सूत्र है जिसे पूरे उपन्यास में जड़ें फैलाते हुए देखा जा सकता है। आरम्भिक कविता की-सी पंक्तियों में उपन्यास के जीवन-मर्म का पूर्वाभास मौजूद है – कहाँ 'गलबहियों-सी/उमड़ती/मचलती/दूधभरी/छातियों-सी/चनाब/और/जेहलम/की/धरती/ माँ/ बनी/कुरते/के/बन्द/खोलती/दूध/की/बूँदें/ढरकाने/को/— और कहाँ—

'दूधभरी/छातियों/से/अब/दूध/नहीं/खून/टपकता/है !' समय और इतिहास का बीतना-बदलना एक अनिवार्य नियम है। वह क्या है जिसे भुला देना ही अच्छा! और वह क्या है जिसे स्मृति से वर्तमान में और वर्तमान से भविष्य में बचाकर रखना मानवीय जिजीविषा की सार्थक पहचान है। कृष्णा सोबती दोनों में फर्क कर पाती हैं। इसीलिए उनका कथा-लेखन उन्हें एक महत्त्वपूर्ण लेखिका के रूप में प्रतिष्ठित करता है। वे बहुत शिल्पसजग हैं पर शिल्पदक्षता उनकी सीमा नहीं है।

'जिन्दीनामा' में वर्णन और बिम्ब का रचाव एक पूरे अंचल की जीवन-पद्धति, लोक-रीति, मानवीय सम्बन्ध, राग और आसक्ति को प्रत्यक्ष करने वाला है। एक अंचल की कथा को जगह-जगह सृष्टि-कथा के अभिप्राय से जोड़ने की युक्ति अकारण नहीं है। स्त्री-पुरुष, सृष्टि-रुख, भू-लोक, आकाश, अग्नि। लोक-सामान्य जीवन व्यवहार में निहित किसी गहरे जीवन-मर्म की पहचान अंतर्दृष्टि के अभाव

NMDC-088

में असम्भव है। जातीय गौरव के आंचलिक आख्यान में शाह-परिवार को जरूर ही महिमामण्डित किया गया है। क्या बड़े शाह और शाहनी, इस संयुक्त परिवार के अन्य सदस्य भी रूप, रंग व्यवहार में एक तरह की गरिमा लिये हुए हैं। एक अर्थ में सामन्ती जीवन-शैली का ही महिमामण्डन है यह! जिसका प्रभाव आतंकप्रद हो, न हो, शेष सभी को अपने ही कहीं नीचे ही रखता है। जीवन स्तर के इस फर्क को राग और ममत्व का प्रदर्शन भी मिटा नहीं पाता। शाहों के यहाँ की समृद्धि। शाहों के यहाँ के घने सुख। शाहों से मिली सुरक्षा। रूप, शिक्षा, गुण, शील, शौर्य, संस्कार सभी दृष्टियों से शाह दूसरों से अलग ठहरेंगे। इस महिमा-मण्डन का ही असर है कि बड़े शाह और राबयाँ के बीच के जिस रागपूर्ण सम्बन्ध पर तूफान खड़ा हो जाता, उसे दार्शनिकता के से अनोखे विस्मय में छिपा लिया गया है। बड़े शाह की पारखी आँख की सराहना ही की गयी है जो राबयाँ को देखते हैं तो देखते ही रहते हैं। और अन्त में जब अचानक राबयाँ शाहजी को अपने में धार लेने क फैसला सुनाती है तो चाहे छोटे शाह ने कहा हो कि यह अनहोनी है, सब मानकर चल रहे हैं कि बड़े शाह की प्रतिष्ठा की आड़ में ऐसी कमजोरियों को भी उपयुक्त नाम दे ही दिया जायेगा। इस प्रतिष्ठा को चुनौती देने वाला जो भी विवादी स्वर है, किसी न किसी युक्ति से दबा दिया गया है। इसके बाद भी 'जिन्दगीनामा' महज सामन्ती संस्कृति का गौरव गान करने वाला उपन्यास नहीं है, वह हर दिन की जीवनचर्या का ऐसा मार्मिक पाठ है जिसे गहरे जीवनधर्मी लगाव का सच्चा प्रमाण मान सकते हैं।

शुरू से ही यह उपन्यास इस अर्थ में पठनीय और महत्त्वपूर्ण लगता है कि एक पूरे अंचल की सांस्कृतिक संरचना में स्त्रीसुलभ संवेदनाओं की बड़ी भूमिका है। सूत कातने और गाने से लेकर अर्थमय हास्यविनोद स्त्री संवेदना की यह बड़ी पूँजी गहरी जीवनसक्ति का ही प्रमाण है। क्या विडम्बना है कि जिस दौर में हमारे यहाँ का महिला लेखन स्त्रीसुलभ संवदेना को हठात् अपने से अलग करने में आधुनिक अर्थ में नारीवादी होने की सार्थकता मानता है, महिला लेखन जैसे लेबुल से हमेशा अलग अपनी साहसपूर्ण कल्पना और रचनात्मक प्रखरता के लिए ख्यात कृष्णा सोबती स्त्रीसुलभ संवेदनाओं का इतना प्रकट और सार्थक इस्तेमाल कर सकी हैं। आंचलिक भाषा, बोली-बानी, मुहावरे में यह संवेदना ऐसी रची-बसी है कि वही वहाँ समग्र कथा-रस का पर्याय बन गयी है।

'जिन्दगीनामा' में एक ओर जीवन की स्वीकृति का सहज रंग है — सहज जीवन राग — जो वर्गों और श्रेणियों के भेद को धुंधला कर देता है या मिटा देता है। शाहनी-पुत्र

NMDC-088

लाली को दीक्षा दी जा रही है कि सभी वर्गों और श्रेणियों में उसके पूज्य जन हैं जिन्हें आदर देना और जिनसे आशीष प्राप्त करना ही उसे गौरव देने वाला है। दूसरी ओर शाहों का प्रच्छन्न आतंक स्मृति से वर्तमान तक छाया हुआ है। शाह गणपत ने चाची महरी को उसके पति के घर से ही उठा लिया था क्योंकि वह उसे पसन्द आ गयी थी। वह भी किसी मेले में। 'तन-बदन की मीठी आँच' कहकर इसी आतंकपूर्ण अपहरण को कहीं छूट देने की मंशा तो नहीं है। कृष्णा सोबती से यह सवाल अक्सर किया जाता रहा है और उनके पास कोई प्रबल विश्वसनीय बचाव-तर्क नहीं है। राबयाँ के रूप का इतना वर्णन है पर उस पर किसी प्रेमी की निगाह पड़ी ही नहीं। छोटे-बड़े शाह जरूर उसके गाने पर मुग्ध होते हैं और उसके रूप के सम्मोहन से विभोर दिखाई देते हैं। शाहनी उसके रूप पर चकित हैं और हर बार उसकी वर्गस्थिति के सन्दर्भ में उसके रूप को चमत्कार ही मानती हैं। "अराइयों की को रब्ब की देन। गला ऐसा सुरीला कि हिरख सोद-मोद-भोग पुर-पुर आये सुरों में!'' XX "काले रंग पर नयी-नवेली रुत की गुलाबी झलक!'' XX अराइयों की धियों को रूप ऐसा कि देख-रेख तिरस मिटे जी की!'' यही रूप फतेह में वह प्रेमोन्माद जगाता है कि शेरे और वह एक-दूसरे के लिए तड़पते दिखाई देते हैं। पर राबयाँ का रूप जैसे एक कल्पनातीत विस्मयकारी घटना है जिसे प्रेम या विवाह से कुछ लेना-देना नहीं। चाची महरी के इस कथन में क्या अर्थ छिपा है – "बस री, तू शादी-ब्याह से परे! तू इन सबसे अनोखी।'' जैसे राबयाँ को सँभालकर रखा जा रहा है अन्तिम प्रसंग के बड़े शाह के स्वत: स्फूर्त वरण के लिए। अनाघ्रात। अक्षत। शाहनी का मन भी कहीं चंचल होता है इस रूप से। पर हर बार शाहजी की निगाह में उभरते उसके रूप पर एक दार्शनिक आध्यात्मिक आवरण-सा डाल दिया जाता है। राबयाँ और बड़े शाह के बीच की प्रगाढ़ आसक्ति की झलक दी गयी है पर एक लोकोत्तर गरिमा और भव्यता के साथ।

"राबयाँ की फाँकड़ी आँखें शाहजी के मस्तक पर जुड़ गयीं।
पलकें न हिली, न डुलीं, न झपकीं।

शाहजी ठिठके-से गैब चक्खु से इस कंजक कँवार को देखने लगे।
छोटी है पर छोटी नही!
लम्बी-चोखी दीठ के बाद राबयाँ ने पौड़ियों की ओर
कदम बढ़ाया तो शाहजी को भासा कोई महालाली
उड़ती-उड़ती सगुण चितार गयी है।''

NMDC-088

इसलिए सब मिलाकर वह एक काल्पनिक सृष्टि लगती है, जबकि फतेह अधिक वास्तविक, अधिक जीवन्त, अधिक सप्राण! फतेह शेरे के साथ आलिंगनबद्ध पकड़ी गयी तो किसी बड़े शाह की मौजूदगी से आतंकित नहीं हुई। शेरे से ही कहा – "तुम्हें सौह है अल्लाहपाक की जो तू कौल से मुड़ा। तुम्हें मार डालूंगी और आप दरिया में डूब मरूँगी।"

शाहों के आतंक, शोषण, अन्याय, अत्याचार के किस्से कम नहीं है पर शाहनी जैसा कोई प्रभा मण्डल उन सबको सुरक्षा देने वाला है। तारेशाह-बरकती-प्रसंग अलग ही उदाहरण है। तारेशाह का जी आ गया इसीलिए बरकती को उठा लिया जिसके साथ और भी दुर्भाग्य घट चुका था। वह एक बार विधवा हो चुकी थी। इस बार भी तारेशाह पर बरकती के ही भाइयों ने भयानक हमला किया था। आँतड़ियाँ बाहर निकल आयी थीं। यानी, शाहों के आतंकप्रद प्रभामण्डल को चुनौती देने वाले स्वर भी हैं। पर दबे-दबे स्वर। बुद्धाँ छोटे शाह से कभी कहती है— 'शाह साहिब, कभी सुना था कंजरी को भी किसी ने भोले भाव से ही बेबे कहकर पुकारा हो।' मेहरअली खासे विक्षुब्ध स्वर में कहता है— "दूध-मलाई धनाढ शाहों की और छाछ-लस्सी हमारी ! लानत हमारी मेहनतों पर!" फरमान अली के स्वर का तीखा व्यंग्य छिपा नहीं है— "शाहों की मल्कीयतें लाल बहियों में और हमारी अपने वजूदों में ! शाह जितना हाथ फैलाये सो उसका। जट्ट जितना पसीना बहाये सो उसका।" इसीलिए शाहों की सामन्ती व्यवस्था में सब कुछ सुन्दर, प्रीतिकर और मानवीय ही नहीं है। जो है वह बीतने वाला है। एक दिन उसकी स्मृति ही शेष रहेगी। कृष्णा सोबती जिसे गौरवान्वित कर रही हैं उसके एक दिन लुप्त हो जाने का खतरा है। यह करुण भाव भी उपन्यास की सांगीतिक लय में मौजूद है।

'जिन्दगीनामा' चक्राकार गति वाला उपन्यास है। सृष्टि-कथा की मिथकीयता, मुगलकार और ब्रिटिश सता की ऐतिहासिकता और संस्कृति का वह सघन लोक-रंग, जिसमें शृंगार, कौतुक, विनोद, राग सब कुछ समाया है— इस उपन्यास को संगठित करते हैं। ढीले-ढाले रूपबंध का निर्वाह करने वाली इस कृति का भाषायी संगीत एक सम्मोहक असर पैदा करता है। वारिसशाह और वराहमिहिर की अनोखी आवाजाही है— इस उपन्यास में ! गुरु गोविन्द सिंह के इस कथन को आदि-अन्त में विन्यस्त करने के पीछे जातीय आख्यान को रूपक में बदलने का ही प्रयोजन है—

चूँ कार अज़ हयाँ हीलते दरगुज़श्त।
हलालस्त बुर्दन ब-शमशीर दस्त।।

'जब दूसरे सब रास्ते कारगर न हो सकें तो जुल्म के खिलाफ तलवार उठा लेना जायज़ है'।

NMDC-088

इस उपन्यास को आंचलिकता के रंग में सांगीतिक रूप देने में भाषायी विन्यास, वाक्य-लय भी सहायक है और चरित्र-समूह में पारस्परिक सम्बन्ध–भावना के रूप में सजीव सहानुभूति भी। वर्णन में लयात्मक प्रवाह अपने ढंग का—" काले कोच्छड़ों की गोरी बहूटी पार्वती बन्दों वाली केसरी ओढ़नी ओढ़ इतरा इतरा जाये। मोहर सिंह की घरवाली छुहारे वाली बूटी का जोड़ा पहन निक्का-निक्का शरमायें।'' दृश्यभाषा की चमक अपने ढंग की–" छोटी-सी काँगड़ी में लाल-सुनहरी अनारा ऐसा सुर्ख सुहाना जिनि धरती की कोख में कोई छोटा-सा टिकुला सूरज का आन पड़ा हो।''औसत व्याकरण की मुहताज नहीं है, यह भाषा। जरूरी नहीं कि शब्द-क्रम व्याकरणसम्मत हो। इस भाषा अपना व्याकरण है— अपनी आंतरिक सृजनशीलता के अनुरूप। चाची महरी ने शाहों के साथ निभा लिया पर पीछे छूट गये देवर की ममता न गयी। ये अन्तर्विरोध मानवीय लगाव की प्रगाढ़ता प्रकट करते हैं।

'जिन्दगीनामा' में ब्यौरे बहुत हैं पर मुख्य कथावृत सीमित है। ताराशाह-बरकती। चाची महराँ-गणपतशाह। फ़तेह-शेरा। राबयाँ-बड़े शाह। इनके बीच की प्रेम-कथाएँ। कथा के समूचे परिदृश्य में कत्ल और अपरहण के कई किस्से हैं। दंगे-फसाद आम हैं। सौतों से डाह या जलन की कई कहानियाँ हैं। हबीबा और रेशमाँ जैसी सहेलियों का खिलंदड़ापन। नूरी और शीरीं। विधवा ब्राह्मणी और अवैध मातृत्व। नटकंजरों के खेल-तमाशे। अवैध प्रेम में भी मर मिटने की उमंग। प्लेग की महामारी। गदर-विप्लव। अंग्रेजी सत्ता का दमन चक्र। प्रकृति का प्रकोप, अन्धविश्वास। आर्यसमाज का बढ़ता प्रभाव। कहीं यह मनोविज्ञान भी, कि मर्द बच्चे को हजार तरह की छूट, स्त्री को नहीं। सारी चेतावनी उसी के लिए–"तू धी-ध्यानी धरती।'' कृष्णा सोबती के लिए जीवन-मर्म ऐसी तमाम चेतावनियों से बड़ा है। 'मित्रो मरजानी' से 'जिन्दगीनामा' तक उनका लेखन कृत्रिम नैतिकता की धज्जियाँ उड़ाने वाला है। यहाँ भी उनकी निगाह जिन्दगी पर है–ऊँच-नीच से परे, वर्जनाओं से परे, डर और आतंक से परे। 'जिन्दगीनामा' जिन्दगी के गहरे बुनियादी लगावों का मार्मिक आख्यान है। अतीत के प्रति मोह हमेशा रुग्ण मोह ही नहीं होता। कृष्णा सोबती ने शाह-परिवार की जीवन-शैली को गहरे मोह से अंकित किया है पर वे इस भ्रम में नहीं हैं कि यह सारा ठाठ ऐसे ही रह जाने वाला है। "दूध भरी छातियों से अब दूध नहीं, खून टपकता है''—कहने का कुछ अर्थ तो है जो अतीत मोह या नास्टेल्जिया से मुक्त करता है।

NMDC-088

7. इतिहास का रचनात्मक वृत्त: ज़िन्दगीनामा

विजय मोहन सिंह

'ज़िन्दगीनामा' कृष्णा सोबती का सबसे महत्वाकांक्षापूर्ण कथा प्रयास है। इस उपन्यास में उन्होंने अपने कुछ पूर्ववर्ती उपन्यासों की परंपरा का निर्वाह करते हुए, उस आंचलिक परिवेश को अपनी पूर्णता में अभिव्यक्त करने की कोशिश की है, जो 'डार से बिछुड़ी' और 'मित्रो मरजानी' में एक सीमित परिधि के अन्तर्गत, किन्तु अत्यंत कलात्मक उत्कृष्टता के साथ व्यक्त किया गया है। 'सूरजमुखी अँधेरे के' उपन्यास उनकी रचनात्मक विकास-प्रकिया में एक अवान्तर प्रसंग की तरह उपस्थित हुआ है। और इस उपन्यास के बाद तत्काल ही संभवत: सोबती जी ने यह अनुभव किया होगा कि उनकी प्रकृत रचनात्मक भूमि यह नहीं है। संभवत: इसी कारण 'ज़िंदगीनामा' में वे एक नई रचनात्मक स्फूर्ति और जटिल कथात्मक बुनावट के साथ उस भूमि पर लौटती हैं, जहाँ से उनकी औपन्यासिक कथायात्रा शुरू हुई थी।

जैसा कि शीर्षक से स्पष्ट है, 'ज़िन्दगीनामा' किसी एक व्यक्ति या व्यक्तियों का वृत्तान्त नहीं है। यह मूलत: एक समूहगान की तरह एक पूरे जातीय समूह का कथागान है। इसीलिए यह आकस्मिक नहीं है कि उपन्यास रीतिबद्ध कथा-आख्यानों की तरह अध्यायों में विभक्त न होकर छोटे-छोटे ऐसे दृश्य-खण्डों में विभाजित है, जो ऊपर से प्राय: असम्बद्ध-से दीखते हैं। किन्तु पूरे उपन्यास के रचाव में एक आन्तरिक, एकसूत्रता है, जो प्रारभ से अंत तक चलती रहती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि 'ज़िन्दगीनामा'- यद्यपि यह एक जाति विशेष, एक निश्चित भौगोलिक-सांस्कृतिक परिवेश तथा काल विशेष में स्थित है– ऐसा आख्यान है, जो किसी व्यक्ति विशेष की कथा के बजाय एक पूरे अंचल के सामाजिक, आर्थिक, सांस्कृतिक परिवेश का मनुष्य के साथ रचाव है।

इस रूप में यह हिन्दी उपन्यास की सीमाओं को भी बहुत विस्तृत करता है। इस उपन्यास में पंजाबी लहजे की वह छौंक-भर नहीं है, जिससे भाषा अधिक जायकेदार हो जाती है, बल्कि इसमें उसके माध्यम से चित्रित होने वाला सम्पूर्ण आंचलिक जीवन है। यहाँ लेखिका की साहसिकता यौन-प्रसंगों के चित्रण में नहीं, जीवन के उन व्यापक और तीखे पहलुओं के चित्रण में है जिन्हें हाथ लगाने का खतरा उनसे पहले किसी कथाकार ने नहीं उठाया था।

NMDC-088

यह ग्रामकथा है। लेकिन इस ग्राम्य परिवेश के अनेक उपखण्ड है, जिसमें 'शाह'-परिवार समृद्ध तथा उसी अर्थ में शक्तिशाली संयुक्त परिवार है। वह केवल आर्थिक स्तर पर ही नहीं, बल्कि सामाजिक नैतिक तथा व्यक्तिगत स्तरों पर भी उस पूरे परिवेश को नियंत्रित करता है। उपन्यास में यद्यपि 'शाह'-परिवार के प्रति एक निश्चित तथा स्पष्ट पक्षपात दीखता है, जिसके अन्तर्गत यह मानकर चला गया है कि एक केन्द्रीय संचालक शक्ति है जो अपनी बहुआयामी क्षमताओं के कारण उस पूरे अंचल का दिशा-निर्देश करती है लेकिन कथा में ऐसी अर्थ-छवियाँ तथा अन्तर्ध्वनियाँ भी हैं, जो शाह-परिवार जैसी सामन्ती सत्ता को चुनौती देती भी प्रतीत होती हैं। यदि इन चुनौती देती हुई शक्तियों का एक समानान्तर रचना-संसार निर्मित किया जा सका होता, तो 'ज़िन्दगीनामा' अवश्य ही 'गोदान' और 'मैला आँचल' के समानान्तर एक अत्यंत विशिष्ट कथाकृति बन सका होता। किन्तु दुर्भाग्य से पूरे परिवेश के प्रखर सूक्ष्म तथ्य-चित्रण के बावजूद सोबती जी ने विरोधी शक्तियों को समानान्तर स्तर पर खड़ा नहीं किया है। चाहे वह शाह-परिवार के किसी व्यक्ति के द्वारा निम्न जाति की किसी कन्या का अपहरण हो अथवा निम्न श्रेणी के किसी व्यक्ति के द्वारा शाह-परिवार के विरुद्ध उठाया गया स्वर। लेखिका की ओर से ऐसे अपहरणों का औचित्य सिद्ध किया गया है और विरोधी स्वरों का दमन दिखाया गया है।

प्रश्न उठता है कि जिस उपन्यास का कथा-शिल्प, जो इतना सूक्ष्म और श्रुति-दृश्यपरक है (आडोविजुअल) तथा ग्रामीण परिवेश की एक-एक दिनचर्या का लगभग संगीतात्मक ब्यौरा देने वाला है (उसकी भाषा इतनी जीवन्त है कि पाठक उसे केवल पढ़ता ही नहीं, बल्कि अपने को उस परिवेश में रखकर, अपने चारों ओर ऐन्द्रिक स्तर पर अनुभव करता है), उसकी भाषिक संरचना और शिल्प तथा उसकी वैचारिक परिणतियों में इतना अंतराल या विच्छेद क्यों है? यह सवाल केवल इस उपन्यास के संदर्भ में नहीं उठाया जा रहा है, बल्कि उस पूरी रचनात्मक प्रक्रिया को ध्यान में रखकर उठाया जा रहा है, जहाँ रचना और विचार के बीच इस तरह के व्यवधान कुछ अत्यन्त मौलिक शंकाओं को जन्म देते हैं। क्या सोबती जी (लेखिका) का रचनाकार की हैसियत से अलग, उस सामन्ती व्यवस्था से अतिरिक्त लगाव है, जो अंतत: और मूलत: अपने अन्तर्विरोधों में जीती हुई दूसरी जातियों और वर्गों के शोषण के आधार पर टिकी हुई है? यह प्रश्न तब नहीं उठाया जा सकता था, जब यह स्पष्ट होता कि सोबती जी रचना के इस पक्ष से विमुख, बेखबर या नावाकिफ

NMDC-088

हैं। तब यह मानकर चला जा सकता था कि यह उनकी रचना की परिधि से बाहर की अपेक्षा है। लेकिन जब उपन्यास में ही अनेक स्थलों पर ऐसे संकेत मिलते हैं और दिए गए हैं जिनसे यह स्पष्ट संकेतित होता है कि शाह-परिवार जिस उपजीविता के आधार पर टिका हुआ है, उसके स्रोत क्या हैं। अनेक स्थलों पर विभिन्न व्यक्तियों, परिवारों का आर्तनाद और दबा हुआ विद्रोही स्वर सुनाई पड़ता है, जो शाह-परिवार के सशक्त होने की बुनियादों का उद्घाटन करता है। लेकिन उपन्यास में ये स्वर दबे ही रहते हैं और प्रारंभ से अंत तक लोगों में शाह-परिवार के प्रति एक वीर-पूजा का भाव ही बना रहता है। यह वीर-पूजा का भाव केवल उस परिवार के पुरुषों के प्रति ही नहीं, स्त्रियों के प्रति भी है। जैसे एक पूरा का पूरा ग्रामीण अंचल उसी परिवार पर अपनी सारी समस्याओं तथा दुःखों के लिए आश्रित हो। उपन्यास की विशेषता या विशिष्टता उसके वैचारिक पक्ष तक ही सीमित नहीं है और न ही होनी चाहिए। 'ज़िन्दगीनामा' अपनी इन वैचारिक सीमाओं का अतिक्रमण करता हुआ एक विशिष्ट उपन्यास बनता है, जो उसकी कलात्मक और रचनात्मक उपलब्धियों में निहित है।

'ज़िन्दगीनामा' का 'विवरण-फलक' जितना विस्तृत और ब्यौरेवार है, उतना उसका 'दृश्य-फलक' नहीं है। कुल मिलाकर उपन्यास की कहानी एक निश्चित और सीमित दायरे में ही घूमती है, जिसमें दो-तीन परिवार हैं, और कुछ ऐसे चरित्र जो उपन्यास के कथानक के आवश्यक अंग नहीं हैं। उपन्यास बीच-बीच में इतिहास ओर बढ़ता है, जिसमें प्रस्तुत चीजों के वार्तालाप के माध्यम से कभी सिक्खों और मुगलों के पारस्परिक सम्बन्ध की व्याख्या की जाती है और यह प्रदर्शित करने का प्रयास किया जाता है कि किस प्रकार दो संस्कृतियों का संघर्ष और समन्वय होता है।

इस प्रकार देखें तो 'ज़िन्दगीनामा' का मूल कथानक उतना ही छोटा या संक्षिप्त है जितना उनके पूर्ववर्ती उपन्यासों का। 'ज़िन्दगीनामा' अपने वास्तविक रूप में एक परिवेश विशेष में एक परिवार विशेष की ही कहानी है, जो अपने आन्तरिक गठन में एक प्रेम-कहानी है। इस प्रेम-कहानी के कई पक्ष हैं, एक वह जो 'ताराशाह'-'बरकती' और उसके विजातीय प्रेम-प्रसंग से जुड़ा हुआ है, जहाँ एक प्रकार का रोमांटिक शौर्य-पराक्रम प्रदर्शित किया जाता है। दूसरा पक्ष 'फतेह' और 'शेरा' का प्रेम-प्रसंग है, जहाँ प्रेम एक प्रकार का किशोर दुःसाहस है, जिसकी परिणति वयस्कों को समझदारी और मानवीयता पर आधारित निर्णय के द्वारा विवाह

NMDC-088

के रूप में होती है। इस प्रेम का तीसरा और अंतिम कोण वह है, जिसकी उपन्यास के प्रारंभ में एक झलक दिखलाकर उसे उपन्यास के अंत तक ले लिए सुरक्षित रखा जाता है। इसमें राबयाँ नाम की एक किशोरी अंततः शाह-परिवार के एक वयस्क सदस्य का वरण करती है। अतः यदि उपन्यास में आई परिवेशजनित घटनाओं — जैसे पारिवारिक अथवा पड़ोस के झगड़े चोरी आदि की घटनाएँ, पुलिस-थानेदार आदि के हथकंडे को छोड़ दें, तो पूरा कथानक एक मार्मिक प्रेम-कथा में या कुछ मार्मिक प्रेम-प्रसंगों में सिमट जाता है। हालाँकि इसे यों भी कहा जा सकता है कि ये प्रेम-प्रसंग उपन्यास की विभिन्न विशृंखल तथा प्रायः असंबद्ध घटनाओं को जोड़ने वाली ऐसी संयोजक स्थितियाँ हैं, जिनके बिना उपन्यास में कोई केन्द्रीयता उत्पन्न नहीं हो सकती थी। ये प्रेम-प्रसंग रोमांटिक प्रेम तथा उनसे सम्बद्ध मनुष्यों की सृष्टि ही करते हैं।

वैसे राबयाँ और बड़े शाह जी का प्रेम-प्रसंग एक संकट की ओर भी संकेत करता है, जो उनके पारिवारिक जीवन का संकट भी है तथा सामाजिक जीवन का भी। क्योंकि शाह जी जिस परिवेश की देन हैं, उसमें उनका अस्तित्व केवल एक व्यक्ति की हैसियत से नहीं, बल्कि अपने पूरे अंचल की सामाजिक, आर्थिक, पारिवारिक तथा अनेक व्यक्तिगत समस्याओं का समाधान करने वाले एक संस्थान के रूप में भी है। वे स्वयं अपने आप में एक कचहरी या अदालत हैं, जहाँ उपन्यास में प्रारंभ से अंत तक दूसरे सारे व्यक्ति उनके सामने कटघरे में खड़े होते हैं। लेकिन उपन्यास का यह अपेक्षाकृत छोटा, मार्मिक और नितान्त कोमल मोड़ उस गहरे संकट की ओर संकेत करता है, जिसके बाद ऐसा आभास होता है कि अपनी नितान्त मानवीय और लगभग नियंत्रण से बाहर की तथाकथित दुर्बलता के कारण शाह जी, स्वयं दूसरों के सामने कटघरे में खड़े कर दिए गए हों। उपन्यास इस संकट के मोड़ पर समाप्त होता है पर यहाँ अपने स्थूल दृश्यगत रूप में वह किसी ऐसे संकट का आभास नहीं देता।

'ज़िन्दगीनामा' का एक दूसरा पक्ष भी है। पूरा उपन्यास जिन परिस्थितियों में लिखा गया है, वह समकालीन परिदृश्य में उसकी एक अलग अर्थवत्ता प्रमाणित करती हैं। मसलन एक लेखक या लेखिका अगर इस देश या राष्ट्र के किसी एक प्रदेश विशेष की प्रतिनिधि है तो उस देश या राष्ट्र के साथ ही उसका अपने प्रदेश से क्या रिश्ता कायम होता है या हो सकता है। क्योंकि जहाँ लेखक एक देश का नागरिक है, वहीं उस प्रदेश का प्रतिनिधि भी है, जिसमें उसकी सामाजिक तथा मानसिक जड़ें

NMDC-088

स्थित हैं। इस प्रकार किसी भी ऐसे महत्वाकांक्षी प्रयास में द्वन्द्वात्मक स्थिति पैदा हो जाती है, जहाँ रचनाकार को अपनी नितान्त जातीय जड़ों और अपने राष्ट्रीय दायित्वों का एक साथ निर्वाह करना पड़ता है जरूरी नहीं है कि वह इस स्थिति के बारे में सचेत हो ही, लेकिन एक अचेतन प्रक्रिया के अन्तर्गत वह द्वन्द्व उसकी रचना का स्वरूप निर्धारित करता है। 'ज़िन्दगीनामा' में यद्यपि यह द्वन्द्व बहुत उभरकर नहीं आया है (कम से कम पहले खण्ड में), किन्तु उसकी पृष्ठभूमि में यह एहसास मौजूद है, कि वह केवल आंचलिक उपन्यास नहीं है। उस आंचलिकता का वृहत्तर परिवेश है, जो उसका अतिक्रमण करता हुए एक राष्ट्र से जुड़ता है। इसी कारण उपन्यास की कथा से अवान्तर प्रसंगों में देश की राजनैतिक-ऐतिहासिक परिस्थितियों का बार-बार सूचनात्मक दबाव दिखाई पड़ता है। यद्यपि यह दबाव उसकी रचना का अंग नहीं बनता, लेकिन उसके प्रति लेखकीय चेतना का आभास लगातार होता रहता है। बाहरी परिवर्तनों से वह आचंलिक परिवेश किस प्रकार प्रभावित होता है, यह उपन्यास में पता नहीं चलता, जैसा कि 'गोदान' तथा 'मैला आँचल' जैसे उपन्यासों में चलता रहता है। यह 'ज़िन्दगीनामा' की एक बड़ी विवशता या एक बड़ा अन्तराल है, जिसको लेखिका पाट नहीं पाती।

ठीक यही स्थिति उपन्यास के मनुष्यों में भी है। क्योंकि जहाँ चीजों, स्थितियों और स्थानीय बोलियों के संवाद इतने मुखर तथा चित्रात्मक हैं वहाँ मनुष्यों का अपना विकास नहीं है। लगभग सारे मनुष्य जिस स्थान या स्थिति से प्रारंभ होते हैं, उसी स्थान या स्थिति तक पहुँचते हैं। यहाँ किसी व्यक्ति का पतन या विकास नहीं होता। व्यक्तियों का प्रायश्चित अवश्य परिलक्षित होता है, किन्तु केन्द्रीय चरित्रों में कोई मूलभूत परिवर्तन परिलक्षित नहीं होता, जिससे पता चल सकता कि किसी चरित्र का विकास या पतन हो रहा है। इसके अभाव में उपन्यास एक स्थायी स्थानीय परिदृश्य का जीता-जागता, बोलता-गाता चित्र अवश्य बन पाता है। पर वहाँ ऐसे मनुष्य नहीं हैं जो क्रमशः या अचानक भी अपने नियत स्थान से ऊपर उठकर कुछ ऐसा घटित कर पाते हों, जिसकी उनसे अपेक्षा नहीं की जाती थी। औपन्यासिक चरित्रों का विकास तभी होता है जब वे कुछ ऐसा कर लेते हैं या कर पाते हैं, जिसकी प्रारंभ में न अपेक्षा होती है न उम्मीद। यही चरित्र उपन्यास की पूर्व निर्धारित योजनाओं से पृथक अपना निजी और स्वतंत्र व्यक्तित्व स्थापित कर पाते हैं। दुर्भाग्य से 'जिन्दगीनामा' में ऐसा कुछ भी घटित नहीं हो पाता है। इसी कारण उसकी अंकित स्थितियाँ पहले की अंकित स्थितियों की प्रायः पुनरावृत्ति प्रतीत

NMDC-088

होती हैं और एक सीमा के बाद उपन्यास थोड़े ही हेर-फेर के साथ समान-सी प्रतीत होने वाली स्थितियों को दुहराता रहता है। इसमें परिवर्तन, जैसा कि पहले कहा चुका है, केवल प्रेम-प्रसंगों के कारण होता है जो कि एक स्थापित योज़ना के अन्तर्गत बीच-बीच में आकर इस परिवर्तन या विकास का आभास देते हैं। प्राय: ऐसे प्रेम-प्रसंग उपन्यास के मनुष्यों को समझने के लिए निकष का काम करते हैं।

उपन्यास इसी कारण किसी कथायात्रा का परिणाम नहीं प्रतीत होता, बल्कि स्मृतियों में अलग-अलग उभर आने वाले अतीत के चलचित्रों का एक समूह बन जाता है, जहाँ लोग तथा परिवेश की घटनाएँ हैं, लेकिन उनके बीच से वह तारतम्य गायब है जो उनको एक जीवन्त मनुष्य में बदलता है। घटनाओं का लम्बा सिलसिला है, लेकिन उन घटनाओं की पृष्ठभूमियाँ गायब हैं। इस प्रकार उपन्यास दृश्यों का एक 'कोलाज़' बनाता है, जो अपने आप में पृथक-पृथक, लगभग फोटोग्राफिक, क्लोज़अप की तरह उभरते हैं। लेकिन यह दृश्य-फलक उस रूप में परस्पर अनुस्यूत नहीं है, जो एक राष्ट्रीय जातीय परम्परा की जीवनगाथा बन पाता।

अत: 'ज़िन्दगीनामा' भले ही एक राष्ट्र के मनुष्यों का 'ज़िन्दगीनामा' न हो, लेकिन ज़िन्दगी की बुनियादी तथा मूलभूत समस्याओं को व्यावहारिक स्तर पर व्यक्त करने वाला एक विशाल सामाजिक उपन्यास अवश्य है। उसकी खामियाँ जितनी स्पष्ट हैं, उसकी खूबियाँ उससे कहीं अधिक प्रभावशाली हैं, जो उन खामियों को बराबर ढकती चलती हैं। किसी रचना में एक छोटी लहर के बाद एक बड़ी लहर का आ जाना बहुत महत्वपूर्ण होता है।

जैसा कि हम देखते हैं, 'ज़िन्दगीनामा' का आरंभ सिक्खों के 10 वें गुरु और मुगल सल्तनत के जुल्म के खिलाफ तलवार के साथ ही कलम उठाने वाले गुरु गोविन्द सिंह की इन दो काव्यात्मक पंक्तियों से किया गया है :

चूँ कार अज़ हमाँ हीलते दरगुज़श्त।
हलालस्त बुर्दन ब-शमशीर दश्त।।

(जब दूसरे सब रास्ते कारगर न हो सकें तो।
जुल्म के खिलाफ तलवार उठा लेना जायज़ है।।)

NMDC-088

एक तरह से यह इस उपन्यास का 'मोटो' तो है ही, उपन्यास के लक्ष्य और उद्देश्य की ओर एक सुनिश्चित संकेत भी है। इसके अतिरिक्त यह उपन्यास में अंतिम स्तर पर जो कुछ भी और जैसे भी घटित होने वाला है, उसके संकल्प की ओर भी एक संकेत ही नहीं, एक इरादे पर सुदृढ़ रहने की उद्घोषणा भी है।

अब यदि उद्घोषित उद्देश्य के संदर्भ या साए में ही हम उपन्यास को पढ़ें कि क्या यह रचना का लक्ष्य है? और यदि लक्ष्य है तो यह उपन्यास के प्रति पहले से ही पाठक की मानसिकता को एक खास दिशा में तैयार कर देने का — जाने या अनजाने –लक्ष्य बन जाता है। हम जानते हैं कि विश्व की अनेक महत्वपूर्ण महान कृतियों में प्राय: ऐसे संकल्पित उद्देश्यों की उद्घोषणा होती है, किन्तु सब इतने सुस्पष्ट तथा प्रत्यक्ष नहीं होते। जैसे किसी अन्य भाषा या भाषाओं के साहित्य में न जाकर हम हिन्दी के ही उस उपन्यास के लगभग ऐसे ही उद्घोषित संकल्प की ओर देखें, जिसकी परम्परा में सोबती जी का यह महत्वपूर्ण उपन्यास लिखा गया है। हमारा तात्पर्य सुविख्यात आंचलिक उपन्यासकार फणीश्वरनाथ रेणु की महान कृति 'मैला आँचल'' से है, जिसके समर्पण-संकल्प में ही कवि सुमित्रानन्दन पंत की ये पंक्तियाँ अंकित हैं-

"भारत माता ग्रामवासिनी, धरती के खेतों पर फैला है,
धूल भरा मैला-सा आँचल।''

तो दोनों में अंतर स्पष्ट हो जाता है। ' मैला आँचल' के इस समर्पण-संकल्प में कोई निर्धारित लक्ष्य नहीं है, महज एक देश की बहुसंख्यक जनता की स्थिति की वास्तविकता की ओर संकेत है। उसके सम्बन्ध में वह (लेखक) क्या कहने जा रहा है, इसे वह अलक्षित ही रहने देता है, क्योंकि यदि भारत माता ग्रामवासिनी है, तो है। इससे बहुत पहले गाँधी जी भी कह चुके थे कि भारत की 80 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है। लेकिन यह महज वस्तुस्थिति की ओर संकेत है। उसके बारे में क्या कहना और क्या करना है, यह आगे लिखी जाने वाली रचना पर छोड़ दिया गया है, जबकि 'ज़िंदगीनामा' में उद्धृत पंक्तियाँ एक निश्चित संकल्प की ओर, एक नुकीली धार की तरह उठी हुई है।

जुल्म के खिलाफ तलवार उठाने का संकल्प हमें जुल्म की ओर उठी या उठायी जाने वाली तलवार की ओर ही ले जाएगा। हाँ, यह जरूर एक अरचित कल्पना का विषय बना रहता है कि जुल्म की वह तलवार किसकी होगी और उसकी ओर

NMDC-088

उठी तलवार किसकी और कैसे उठी हुई होगी। वस्तुत: यही प्रश्न संरचना का विषय बनता है।

यदि सतर्क पाठक भूलता नहीं है और उपन्यास के अन्त तक पहुँचता है, तब पाता है कि इसकी आखिरी पंक्तियाँ हैं :

> "शाह जी कई वेर सिर हिलाते रहे–'बादशाहो, दशम
> पातशाही गुरु गोविन्द सिंह जी महाराज ने मुगल बादशाह
> औरंगजेब के जोर-जुल्म देखकर उसे खत में लिखा–
> चूँ कार अज़ हमाँ हीलते दरगुज़शत।
> हलालस्त बुर्दन ब-शमशीर दश्त।।
>
> जब दूसरे सब रास्ते कारगर न हो सकें तो जुल्म के खिलाफ तलवार उठा लेना जायज़ है।''

इस तरह शुरुआत और अन्त की यह वृत्त बनाती संरचना केवल संरचनात्मक स्तर पर कथा की एकसूत्रता को ही कायम नहीं रखती, बल्कि एक रोमांचक ऐतिहासिक दस्तावेज के रूप में पूरे उपन्यास को, एक नया अनोखा रचनात्मक, कथा में लगभग अलक्षित, किन्तु संभवत: सबसे सोद्देश्य और सार्थक, आयाम भी देती है।

यह सार्थक आयाम क्या है ? एक दिलचस्प और लगभग करिश्माकारी उद्घाटन है, जब पाठक यह पाता है कि ऐसी कोई कृति जो स्वयं एक ऐतिहासिक प्रत्यावर्तन के दस्तावेज के रूप में शुरू होती है, और अंत में पहुँचकर वह स्वयं अपने को उन छूटे हुए और कभी-कभी अनदेखे कर दिए गए आयामों और स्तरों का पुनरावलोकन करने के लिए विवश पाती है। 'ज़िन्दगीनामा' ऐसी ही विरल और महत्वपूर्ण कृतियों की कोटि में आता है। कवितात्मक प्रारंभ के बाद एक नाटकीय संवादात्मक शैली में प्रारंभ किए जाने वाले उपन्यास में प्रतीत होता है कि यह एक परिवार की गाथा है या अधिक से अधिक आंचलिक गाथा। इस क्रम में उपन्यास की कथा उसे बहुत देर तक उलझाए रखती है और यह कथाकार की ओर से सोद्देश्य और जानबूझकर किया जाता है। हर महत्वपूर्ण सफल रचनाकार ऐसे रचनात्मक तिलस्मी भ्रम की सृष्टि करता है, और जिस हद तक वह इस भ्रम की सृष्टि कर पाता है, उसी हद तक सफल होता है। अंतत: तब सर्वाधिक सफल होता है, जब वह उसी रचनात्मकता का निर्वाह करते हुए उस भ्रम को तोड़ता है। यह

NMDC-088

हर महान कलाकृति का मर्म है, चाहे वह जिस विधा की हो। जब पाठक को यह लगता है कि 'ज़िन्दगीनामा' एक परिवार की गाथा या ग्रामकथा अथवा एक अंचल की कथा है, तो वह यह मानकर चलने लगता है कि मूलतः यह कथा गृहकलह, दो यां चार परिवारों के बीच वैमनस्य, ईर्ष्या-द्वेष या दो जातियों या वर्गों के बीच संघर्ष या शोषण अथवा एक सामन्ती परिवेश के विविध रूपों में व्यक्त होने वाली स्थितियों की कथा है। वह उसी तन्मयता के साथ उनसे लिपटा चलता रहता है। उसे यह नहीं लगता कि यह उपन्यास की सीमा है, जो लगना भी नहीं चाहिए। क्योंकि कोई ऐसी कथा किसी कृति की सीमा नहीं होती और न उससे यह अपेक्षा करनी चाहिए कि वह उससे अलग भी कुछ हो सकती है। यह इसलिए कि कोई भी कथाकृति अपने कथा-विषय की एक सीमा निर्धारित करके चल सकती है। उसी के अन्तर्गत उसकी सफलता और सार्थकता निर्धारित की जानी चाहिए। इसी के बीच उपन्यास की कथा कुछ अंतरंग सम्बन्धों, बल्कि जटिल एवं एक समाज में लगभग अस्वीकृत और असंभव प्रेम-प्रसंगों पर भी केन्द्रित होने लगती है उपन्यास उनका अलग आस्वाद देता है। लेकिन उपन्यास की पूरी संरचना में जो विस्मयकारी बोध होता है, वह यह है कि उसका एक निश्चित और लगभग मान्य स्थिति का दायरा अनायास विस्तृत और विकसित होता जाता है, जैसे किसी शान्त ताल में उठी तरंग एक संचित वृत्त से विकसित होती और अनेक वृत्तों की संरचना करती हुई सम्पूर्ण जल में एक उद्वेलन बन जाती है। 'ज़िन्दगीनामा' में ऐसा ही होता है। इसीलिए वह 'ज़िन्दगीनामा' है, 'व्यक्तिनामा' नहीं। क्योंकि यह उपन्यास आंचलिक और पारिवारिक कथा-परिवेश में रीति-रिवाजों, रस्मों, खान-पान के तरीकों, एक अंचल विशेष के भाषाई अंदाजों, कथनों, वक्रोक्तियों के साथ-साथ, सामन्ती संरचना वाले समाज की विकृतियों और विशेषताओं के बीच सांमजस्य स्थापित करता हुआ आगे बढ़ता है, तो सहसा वह प्रत्यक्षतः अंकित चित्र का अतिक्रमण करके, उससे बाहर के और परोक्ष या कथावृत्त के दायरे की ओट में रहने वाले ऐतिहासिक परिवर्तन का साक्ष्य बन जाता है। बल्कि यूँ कहें कि साक्ष्य ही नहीं, सहभागी हो जाता है।

शाह जी की अंतिम उक्ति के साथ उपन्यास की समाप्ति और उसी उक्ति के साथ उपन्यास का प्रारंभ उपन्यास को एक ऐसा बहुआयामी आकार दे देता है, जिसे इन अनेक स्तरों पर साथ-साथ निभाते हुए चलना—और वह भी बिना किसी प्रत्यक्ष और प्रयत्नसिद्ध प्रक्रिया को अपनाए हुए—एक दुष्कर कार्य-सा प्रतीत होने लगता है। इस अर्थ में यह उपन्यास टॉल्स्टॉय के विश्व-प्रसिद्ध और, संभवतः

NMDC-088

उपन्यास-विधा के सर्वश्रेष्ठ उदाहरण 'वार एण्ड पीस' के समानान्तर होने की दिशा में सार्थक ढंग से उठाया गया एक पग प्रतीत होता है।

वस्तुत: यह वही दुर्लभ सामंजस्य है, जिसे प्राय: हिन्दी के ही नहीं, अनेक भारतीय भाषाओं के उपन्यास एक साथ नहीं निभा पाते और जिसमें व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन का एक आभासहीन रचनात्मक संयोजन हो पाता हो। 'ज़िन्दगीनामा' के संदर्भ में यह इसलिए भी अधिक उल्लेखनीय हो जाता है, क्योंकि यह पूरी कथाकृति का एक खण्ड है और एक दौर पर जाकर समाप्त हो जाता है—दूसरे दौर की ओर एक इंगिति करता हुआ।

उपन्यास के प्रारंभिक अंशों में ही एक स्थान पर 'बड्डेलाला' जो मूलत: एक कथावाचक हैं, लड़कियों-लड़कों को सृष्टि के आरंभ होने की कहानी सुनाते हैं। यह कथा जितनी दिलचस्प है, वह तो है ही, लेकिन जिस ढंग से बीच-बीच में बच्चों और बच्चियों द्वारा व्यवधान पहुँचाने वाली भोली जिज्ञासाओं और उनका शमन करने वाले उतने ही मनोरंजक और कल्पनाउर्वर समाधानों द्वारा क्रमश: आगे बढ़ती है, वह निश्चित रूप से इस उपन्यास की कथा-शैली का एक अनोखा उदाहरण है। इसी प्रसंग में श्रोत्राओं में से एक महिला एक बच्चे की भोली जिज्ञासा शान्त करते हुए अनायास कहती है : "बच्चो ! 'रुख' वही रहता है, उसके रखवाले बदलते रहते हैं।''

इसमें जो अर्थगर्भिता है, उसका संकेत छिपा नहीं रह जाता। उपन्यास में इस तरह के संकेत और संकेतित विधान का यह केवल एक नमूना है, जो इस तथ्य का पर्याप्त सशक्त प्रमाण है कि एक अन्तर्निहित—प्राय: प्रकृति-प्रदत्त विवेक-बुद्धि, गाँवों के निरीह और प्राय: अबोध और अज्ञानी समझे जाने वाले लोगों में किसी गुरुज्ञानी से कहीं अधिक ही होती है, कम नहीं। एक दूसरा संकेत जो इस सृष्टि रचना के कथा-प्रसंग में निहित है, वह यह कि हर सम्प्रदाय, हर धर्म और कभी-कभी प्रत्येक चिन्तक ही नहीं, एक सामान्य विवेकसम्पन्न व्यक्ति भी सृष्टि की उत्पत्ति संबंधी अपनी एक नितान्त निजी और कल्पनाशील धारणा रखता है।

हर रचना, विशेष रूप से जो तृदिक् (थ्रीडायमेन्शनल) नहीं होती जैसे मनुष्य, पहाड़, पशु, पक्षी, पेड़, नदियाँ और वे तमाम चीज़ें, जिन्हें मनुष्य केवल सुनता, देखता और छूता ही नहीं, उनके बीच, उनके भीतर और बाहर, उनके सम्मुख या

NMDC-088

उनके पार रहता और जीता है। इन सबके अलावा वे रचनाएँ जो मनुष्य स्वयं करता है और जिस क्रम में मनुष्य स्वयं मनुष्य की रचना बनता है, जो स्वयं एक 'त्रिदेक् प्राणी' है। बल्कि इसके अलावा यदि यह मानकर चलें कि 'काल' भी एक आयाम है तो वह एक 'चतुर्दिक' प्राणी है। फिर वे रचनाएँ जिनमें घर, वस्तुएँ, जिन वस्तुओं में स्वयं उसके द्वारा निर्मित असंख्य सचल और अचल, सवाक् और मूल, यंत्र आदि शामिल हैं—और इनके अतिरिक्त वे अनेक कलाकृतियाँ जो महज उसकी रचनात्मक कल्पना की देन हैं, जिनमें शब्द और शब्दों के द्वारा रचित न मालूम क्या-क्या शामिल है, जैसे—काव्य, कलाकृतियाँ, संगीत जो कभी शब्द है और कभी शब्द नहीं भी है। एक शब्दरहित रचना, रचना-संसार है, जो कभी श्रुत है और कभी अश्रुत, जैसे पेंटिंग्स तथा वास्तुकला और शिल्प की वस्तुएँ। तो वह सब क्या इसलिए झूठे पड़ जाएँगे कि वे महज मनुष्य की अपनी कल्पना की देन हैं? जबकि पूरी 'सृष्टि' कल्पना की देन है। वह सृष्टि जो हम में से हरेक की कल्पनाओं में अलग-अलग ढंग से निवास करती है, अलग-अलग ढंग से बनती और बिगड़ती है। जैसे प्रलय और कयामत की कल्पना, जीने और मरने की कल्पना, जीने और मरने के अलग-अलग ढंग और उनकी अलग-अलग व्याख्याओं की कल्पना। इस अर्थ में देखें तो सम्पूर्ण सृष्टि वस्तुतः एक कल्पना के अतिरिक्त है क्या ? इसीलिए उसकी उत्पत्ति या उसके विनाश या विकास के बारे में की गई कोई भी कल्पना न झूठी है न हास्यास्पद, क्योंकि वह जितनी बहुरंगी है, उतनी ही सच और स्वयं जीवन को एक बहुलता और बहुविधता देने का सहज प्रयास है, जिससे जीवन क्रमशः स्वयं सहज और बहुविध बनकर जीने योग्य बनता है।

सोबती जी ने अपने इस संक्षिप्त कथारूपक में न किसी प्रकार की दार्शनिकता व्यक्त की है और न उसे किसी दार्शनिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। यदि ऐसा कुछ होता तो यह उसकी रचनात्मकता और संरचनात्मकता में भी बाधा ही पहुँचाता, किन्तु हमें इस प्रकार की व्याख्या इसलिए करनी पड़ी कि हम इस कथारूपक में अन्तर्निहित अर्थध्वनियों को व्याख्यायित कर सकें। हमारी दृष्टि में किसी भी रचना की आंतरिक संरचना, उसकी अनेकस्तरीय और अनेकआयामी अर्थ उत्पन्न करने की क्षमता से पृथक नहीं होती। इसीलिए हम रचना की संरचना को उसके रूप-पक्ष का खंडित या वर्गीकृत विश्लेषण नहीं मानते।

आखिर उपन्यास में घर, परिवार, ग्राम उनका एक सामूहिक जीवन और उससे भी वृहत्तर संदर्भ में उस पूरे समूह को अपने ढंग से परिचालित करता, परिवर्तित करता

NMDC-088

और अंततः आतंकित करता एक दूसरा परिवेश है, जो परिवेश नहीं मूलतः एक 'सत्ता' है, जिसका प्रभाव उपन्यास में प्रारंभ से ही उसके प्राणियों के निजी, आन्तरिक पारिवारिक, हर्ष, उल्लास, विषाद के बीच की ज़िंदगी को प्रभावित करना शुरू कर देता है। और जो धीरे-धीरे बढ़ता हुआ सत्ता के उस आतंककारी वास्तविक हस्तक्षेप तक पहुँचता है, जहाँ यह मनुष्यों के सरल, भोले, अपने छोटे बड़े सुखों-दुखों में मग्न लोगों के उस छोटे-से किन्तु बहुरंगे और हँसते-खिलखिलाते संसार को घरौंदों की तरह मसलने के लिए अपनी भयावनी बाँह बढ़ाता है जो मूलतः उपन्यास का अंत है और यहाँ शाह जी की गुरु गोविन्द सिंह की वही उक्ति दुहरानी पड़ती है, जो उपन्यास की पृष्ठभूमि में है। कहने की आवश्यकता नहीं कि यह पुनरावृत्ति उपन्यास की ही रचनात्मकता का वृत्त नहीं है, बल्कि इतिहास की पुनरावृत्ति का वृत्त है, जिससे स्वतः संकेतित होता है कि जो कुछ मध्ययुग में एक विशेष सत्ता और जनता के बीच घटित हुआ था, वही एक दूसरी विशेष सत्ता और जनता के बीच पुनः घटित होने जा रहा है। इस परिप्रेक्ष्य में देखें तो उपन्यास की इस संरचनात्मकता का वृत्त किंचित और वृहत्तर हो जाता है। उसके शीर्षक का उसकी कथात्मकता के साथ रचनात्मक संगुंफन और अधिक जटिलतर, सोद्देश्य तथा सार्थक होकर दीप्त हो उठता है। हम समझते है कि यह उपन्यास की जटिल संरचना के ऊपर अतिरिक्त अर्थारोपण नहीं, बल्कि अन्तर्निहित अर्थवत्ता का उद्घाटन मात्र है। 'जिन्दगीनामा' के मनुष्यों और परिवेश में एक विरल संयोजन है।

एक आन्तरिक एकसूत्रता है, जो अलक्षित तो रहती ही नहीं, उपन्यास के घोषित उद्देश्य से एक जीवित सम्पर्क भी बनाए रखती है, जिसके अन्तर्गत कहा जाता है कि —

इतिहास/ जो नहीं है
और इतिहास/ जो है
वह नहीं
जो हुकूमतों की
तख़्तगाहों में
प्रमाणों और सबूतों के साथ
ऐतिहासिक खातों में दर्ज़ कर

NMDC-088

सुरक्षित कर दिया जाता है,
बल्कि वह
जो लोकमानस की
भागीरथी के साथ-साथ
बहता है
पनपता और फैलता है
और जनसामान्य के
सांस्कृतिक पुख़्तापन में
ज़िन्दा रहता है!

यह भी कहने की आवश्यकता नहीं कि उपन्यास का यह सांगीतिक पैटर्न इतिहास के इस लोकमानस संयुक्त, जीवित और पुख़्ता परिवेश का दस्तावेज़ है।

लेकिन यह कहने की आवश्यकता अवश्य महसूस होती है कि इस उद्देश्य की उद्घोषणा यदि प्रारंभ में ही इतने स्पष्ट तौर पर न की गई होती, तो वह उसकी रचनात्मकता और संरचनात्मकता को और उसके द्वारा व्यक्त लोकमानस के सांस्कृतिक पुख़्तापन को कुछ और पुख़्ता करती।

'ज़िंदगीनामा' अपने शीर्षक और संरचना सहित अपनी सम्पूर्ण उपस्थिति के साथ एक ओजस्वी रचनात्मक विस्फोट तो है ही, एक पूरी जाति विशेष की सम्पूर्ण जीवन-प्रणाली का प्रत्यावर्तन शैली में पुनरावलोकन भी है, जो उस जाति, परिवेश तथा अपनी संपूर्णता में पूरे इतिहास को समझने का एक नया संदर्भ और नई दृष्टि पैदा करता है। 'ज़िन्दगीनामा' का मनुष्य अपने तथाकथित नएपन के कारण नहीं, बल्कि अपनी सम्पूर्ण परम्परागत तथा समकालीन जीवित जटिल उपस्थिति के कारण महत्वपूर्ण है।

NMDC-088

8. जीवन के प्रति अडिग आस्था

'अज्ञेय'

लेखक को दो चीज़ों से बचना चाहिए : एक तो भूमिकाएँ लिखने से दूसरे अपने समवर्ती लेखकों के बारे में अपना मन प्रकट करने से। यहाँ मैं ये दोनों भूलें करने जा रहा हूँ; पर इसमें मुझे ज़रा भी झिझक नहीं है, खेद की तो बात ही क्या ! मैं मानता हूँ; कि धर्मवीर भारती हिन्दी की उन उठती हुई प्रतिभाओं में से हैं जिन पर हिन्दी का भविष्य निर्भर करता है। और जिन्हें देखकर हम कह सकते हैं कि हिन्दी उस अँधियारे अन्तराल को पार कर चुकी है जो इतनें दिनों से मानो अन्तहीन दीख पड़ता था।

प्रतिभाएँ और भी हैं, कृतित्व औरों का भी उल्लेख्य है। पर उनसे धर्मवीर जी में एक विशेषता है। केवल एक अच्छे, परिश्रमी, रोचक लेखक ही नहीं हैं, वे नयी पौधे के सबसे मौलिक लेखक भी हैं। मेरे निकट यह बहुत बड़ी विशेषता है, और इसी की दाद देने के लिए मैंने यहाँ वे दोनों भूलें करना स्वीकार किया है जिनमें से एक से तो मैं सदा बचता आया हूँ; हाँ, दूसरी से बचने की कोशिश नहीं की क्योंकि अपने बहुत से समकालीनों के अभ्यास के प्रतिकूल मैं अपने समकालीनों की रचनाएँ पढ़ता हूँ; और पढ़ता हूँ तो उनके बारे में कुछ मत प्रकट करना बुद्धिमानी न हो तो अस्वाभाविक तो नहीं है।

भारती जीनियस नहीं हैं : किसी को जीनियस कह देना उसकी प्रतिभा को बहुत भारी विशेषण देकर उड़ा देना ही है। जीनियस क्या है, यह हम जानते ही नहीं। लक्षणों को ही जानते हैं,—अथक श्रम-सामर्थ्य और अध्यवसाय, बहुमुखी क्रियाशीलता, प्राचुर्य, चिरजाग्रत चिर-निर्माणशील कल्पना, सतत जिज्ञासा और पर्यवेक्षण, देश-काल या युग-सत्य के प्रति सतर्कता, परम्पराज्ञान, मौलिकता, आत्मविश्वास और—हाँ, -एक गहरी विनय। भारती में ये सभी विद्यमान हैं; अनुपात इनका जीनियसों में भी समान नहीं होता। और भारती में एक चीज़ और भी है जो प्रतिभा के साथ जरूरी तौर पर नहीं आती—हास्य।

ये सब बातें जो मैं कह रहा हूँ, इन्हें वही पाठक समझेगा जिसने भारती की अन्य रचनाएँ भी पढ़ी हैं, जैसे कि मैंने पढ़ी हैं। जिसने वे नहीं पढ़ी, सोच सकता है कि इस तरह की साधारण बातें कहने से क्या लाभ जिनकी कसौटी प्रस्तुत सामग्री

NMDC-088

से न हो सके? और उसका सोचना ठीक होगा : स्थाली-पुलाक न्याय कहीं लगता है तो मौलिक प्रतिभा की परख में, उसकी छाप छोटी-सी अलग कृति पर भी स्पष्ट होती है; और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पर भी धर्मवीर की विशिष्ट प्रतिभा की छाप है।

सबसे पहली बात है उसका गठन। बहुत सीधी, बहुत सादी, पुराने ढंग की-बहुत पुराने, जैसा आप बचपन से जानते हैं— अलफ़लैला वाला ढंग, पंचतन्त्र वाला ढंग, बोकैच्छियों वाला ढंग, जिसमें रोज़ क़िस्सागोई की मजलिस जुटती है, फिर कहानी में से कहानी निकलती है। ऊपरी तौर पर देखिए तो यह ढंग उस ज़माने का है जब सब काम फ़ुरसत और इत्मीनान से होते थे; और कहानी भी आराम से और मज़े लेकर कही जाती थी। पर क्या भारती को वैसी कहानी वैसे कहना अभीष्ट है? नहीं, यह सीधापन और पुरानापन इसीलिए है कि आपको भारती की बात के प्रति एक खुलापन पैदा हो जाए; बात वह फ़ुरसत का वक़्त काटने या दिल बहलाने वाली नहीं है, हृदय को कचोटने, बुद्धि को झँझोड़कर रख देनेवाली है। मौलिकता अभूतपूर्व, पूर्ण शृंखला-विहीन नयेपन में नहीं, पुराने में नयी जान डालने में भी है (और कभी पुरानी जान को नयी काया देने में भी); और भारती ने इस ऊपर से पुराने जान पड़नेवाले ढंग का भी बिलकुल नया और हिन्दी में अनूठा उपयोग किया है। और वह केवल प्रयोग-कौतुक के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि वह जो कहना चाहते हैं उसके लिए यह उपयुक्त ढंग है।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है। वह एक पूरे समाज का चित्र और आलोचन है; और जैसे उस समाज की अनन्त शक्तियाँ परस्पर आश्रित और परस्पर सम्भूत हैं, वैसे ही उसकी कहानियाँ भी। प्राचीन चित्रों में जैसे एक ही फलक पर परस्पर कई घटनाओं का चित्रण करके उसकी वर्णनात्मकता को सम्पूर्ण बनाया जाता है, उसमें एक घटना-चित्र की स्थिरता के बदले एक घटनाक्रम की प्रवाहमयता लायी जाती है, उसी प्रकार इस समाज-चित्र में एक ही वस्तु को कई स्तरों पर, कई लोगों से और कई कालों में देखने और दर्शाने का प्रयत्न किया गया है, जिससे उसमें देश और काल दोनों का प्रसार प्रतिबिम्बित हो सके। लम्बाई और चौड़ाई के दो आयामों के फलक में गहराई का तीसरा आयाम छाँही द्वारा दिखाया जाता है; समाज-चित्र में देश के तीन आयामों के अतिरिक्त काल के भी आयाम आवश्यक होते हैं और उन्हें दर्शाने के लिए चित्रकार को अन्य उपाय ढूँढ़ना आवश्यक होता है।

NMDC-088

वह चित्र सुन्दर, प्रीतिकर या सुखद नहीं है; क्योंकि उस समाज का जीवन वैसा नहीं है और भारती ने चित्र को यथाशक्य सच्चा उतारना चाहा है। पर वह असुन्दर या प्रीतिकर भी नहीं, क्योंकि वह मृत नहीं है, न मृत्युपूजक ही है। उसमें दो चीज़ें है जो उसे इस खतरे से उबारती हैं-और इनमें से एक भी काफी होती है : एक तो उसका हास्य भले ही वह वक्र और कभी कुटिल या विद्रूप भी हो; दूसरे एक अदम्य और निष्ठामयी आशा। वास्तव, में जीवन के प्रति यह अडिग आस्था ही 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' है — "जो हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता है ताकि हम वह रास्ता बना सकें जिस पर होकर भविष्य का घोड़ा आएगा।" इस वस्तु का इतना सुन्दर निर्वाह, उसके गम्भीरतर तात्पर्यों का इस साहसपूर्ण और ईमानदार ढंग से स्वीकार, और उस स्वीकृति में भी उससे न हारकर उठने का निश्चय— ये सब 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को एक महत्त्वपूर्ण कृति बनाते हैं।

"पर कोई न कोई चीज ऐसी है जिसमें हमेशा अँधेरे को चीरकर आगे बढ़ने, समाज-व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुन: स्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी गई है। चाहे उसे आत्मा कह लो, चाहे कुछ और। और विश्वास, साहस, सत्य के प्रति निष्ठा, उस प्रकाशवाही आत्मा को उसी तरह आगे ले चलते हैं जैसे सात घोड़े सूर्य को आगे बढ़ा ले चलते हैं।" ये पुस्तक के कथा नायक और प्रमुख पात्र माणिक मुल्ला के शब्द हैं। किसी उक्ति के निमित्त से एक पात्र के साथ लेखक को सम्पूर्ण रूप से एकात्म करने की प्रचलित मूर्खता मैं नहीं करूँगा, पर इस उक्ति में बोलनेवाला विश्वास स्वयं भारती का भी विश्वास है, ऐसा मुझे लगता है; और वह विश्वास हम सबमें अटूट रहे, ऐसी मेरी कामना है।

NMDC-088

9. एक नवीन कथा-प्रयोग : 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'

गिरिजाकुमार माथुर

धर्मवीर भारती का 'एक नवीन कथा-प्रयोग' है 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'। इस लघु उपन्यास में दो कथा-वृत्त एक केन्द्रबिन्दु से विकसित होकर एक-दूसरे को काटते हुए अपने में पूर्ण हो जाते हैं किन्तु एक तीसरा कथा-वृत्त भी है जिसका केन्द्रबिन्दु 'मैं' है और जो इन वृत्तों से पृथक् हटकर तटस्थता का निष्कर्ष एवं कथा-वस्तु का निरूपण करता है। समस्त रचना-विधान इस प्रकार है—

प्रथम कथा-वृत्त का केन्द्र माणिक मुल्ला है, जमुना, लिली, और तन्ना केन्द्र के उपग्रह।

दूसरे कथा-वृत्त का केन्द्र माणिक मुल्ला है, सती, महेसर और चमनसिंह केन्द्र के उपग्रह।

तीसरा कथा-वृत 'मैं' का है, जिसके एक ओर मार्क्सवादी सिद्धान्तों का व्यंग्यपूर्ण चित्रण है और दूसरी ओर व्यक्तिवादी कला-पक्ष। यह वृत्त गौण है।

कथा के प्रथम वृत्त में 'जमुना' है जो परिस्थितियों से समन्वय करती चलती है। मध्यवर्ग की युवती विवाह न होने पर 'माणिक मुल्ला' जैसे भोंदू को अपने आलिंगन वक्ष में कस कर अपनी वासना तृषा को शान्त कर लेती थी किन्तु विवाह के लिए अपने सम्भावित पति को भी ललचायी दृष्टि से देखती थी, तन्ना से विवाह न होने पर उसका क्रम माणिक मुल्ला के साथ चलता जाता है किन्तु एक बूढ़े पति से विवाह करके भी वह प्रसन्न रह जाती है। पुत्र के लिए पूजा-पाठ करती है और पुत्र उत्पन्न होने के बाद जब पति मर जाता है तो वह अपने तांगे वाले को रिक्त स्थान का आधिपत्य सौंप देती है और इस तरह उसके जीवन में चूँकि कोई आदर्श नहीं है इसलिए वह सदैव सुखी रह सकती है, इसकी झलक उपन्यास में अव्यक्त ढंग से प्रस्तुत करने की चेष्टा की गयी है।

किन्तु दूसरी ओर तन्ना जैसा आदर्शवादी व्यक्ति है जो आदर्शों के बोझ में दबा मृत्यु को अपना लेता है। उसके अनेक दुःख होते हैं, माता मर जाती है, पिता एक रखैल रख लेता है; वह स्त्री तन्ना और उसके सब भाइयों और बहनों को पीड़ा पहुँचाती है और इसी संघर्ष में पढ़ना-लिखना छोड़कर वह नौकरी कर लेता है

NMDC-088

–पिता द्वारा आश्रित रखैल घर से निकल जाती है। तन्ना का विवाह एक धनी लड़की से हो जाता है जिसका नाम है लिली लेकिन आर्थिक संकटों और तन्ना की ईमानदारी के कारण कोई व्यवस्था ठीक-ठीक नहीं चल पाती—तन्ना की नौकरी छूट जाती है। यूनियन की कोशिश से उसे फिर नौकरी मिलती है किन्तु अब तक उसे टी.बी. हो चुकी होती है और लिली उसे छोड़कर चली जा चुकती है और तन्ना रेल की एक दुर्घटना में दोनों पैर कट जाने से मर जाता है—और माणिक मुल्ला यह बताते हैं कि लिली से भी उनका पूर्व सम्बन्ध था और वह इतने बड़े कायर व्यक्ति थे कि अपनी आदर्शवादी सिद्धान्त के आड़ में लिली को प्रेम तो करते थे किन्तु उनमें यह साहस नहीं था कि उससे विवाह कर सकते और लिली भी कुछ इस प्रकार की लड़की थी कि यह निश्चित हो जाने पर कि उसका विवाह तन्ना ही से होगा वह माणिक मुल्ला को भूल जाती है और इतना सारा उपन्यास में एक-एक करके घटित होता जाता है किन्तु माणिक मुल्ला जैसे के तैसे ही रह जाते हैं और अब न तो माणिक मुल्ला एक प्रेमी हैं और न एक आदर्शवादी; वह केवल एक 'कथा कहने वाले हैं' —जो कथा कहते हैं, केवल कथा के लिए नहीं वरन् मनमाने निष्कर्ष निकालने के लिए, किन्तु इस अन्त तक पहुँचने के पहले लिली के बाद ही वह अचानक एक रोज़ एक लड़की से मिलते है जिसे एक फ़ौजी सिपाही ने बुलिचिस्तान में आज से सोलह-सत्रह वर्ष पूर्व पकड़ा था और जो अब नगर में एक साबुन की दुकान द्वारा अपनी जीविका चलाता है और जिसकी वासना इतनी तीव्र है कि अपनी गोद में खिलायी हुई लड़की को बड़ा होकर काम इच्छा की दृष्टि से देखता है किन्तु सत्ती माणिक मुल्ला को चाहती है और तन्ना का बूढ़ा पोपला पिता 'महेरार दलाल' भी उसे फाँसना चाहता है किन्तु वह माणिक मुल्ला की सहायता चाहती है और माणिक मुल्ला है कि मारे डर के उसको पकड़वा देता है और कहानी का अन्त यह होता है कि चमन सिंह और सत्ती को माणिक मुल्ला उसी नगर में एक गाड़ी पर बैठे हुए भीख माँगते देखते हैं—जो अस्वाभाविक, कृत्रिम और अवैज्ञानिक है।

-तो सारे उपन्यास में कोई भी पात्र असाधारण नहीं है। एक दृष्टिकोण से देखा जाए तो शायद सभी निम्न कोटि के हैं। जमुना, लिली और सत्ती तीनों ही निम्न और पतित 'प्रकार' की स्त्रियाँ हैं। जमुना अवसरवादी और समझौता-पसन्द स्त्री है। उसके सामने न तो जीवन का कोई आदर्श है और न उसकी अपनी कोई इच्छा। वह प्रत्येक परिस्थिति से समझौता ही नहीं करती वरन् वह उसका उपयोग

NMDC-088

करती है। जमुना में संघर्ष करने एवं आस्थाओं के प्रति टिकने की क्षमता नहीं है। जहाँ यह किसी अन्य पात्र में एक गुण की बात होती वहीं जमुना के चरित्र में वह एक दोष बन जाता है, क्योंकि जमुना का समस्त जीवन वासना से ओत-प्रोत और अर्थ-प्रधान है।

लिली भी जमुना का प्रतिरूप नहीं तो उसी वर्ग की है—उसमें भी संघर्ष करने की क्षमता नहीं है, केवल परिस्थितियों से भाग जाने की क्षमता है। अन्तर केवल इतना है कि जमुना परिस्थितियों को ओढ़ लेती है और फिर उनके अनुसार अपनी स्वार्थ-पूर्ति के लिए कदम उठाती है, लिली परिस्थितियों से भागती है और उनको भुला देने की चेष्टा करती है। जमुना परिस्थिति-वृत्त के बाहर वाले व्यक्तियों को एकदम भुला नहीं देती किन्तु लिली सब कुछ भुला देती है।

किन्तु सत्ती में संघर्ष की थोड़ी-बहुत क्षमता है, वह अपने पास चाकू रखती है और वह जिस चाकू को महेसर और चमनसिंह की हत्या के लिए प्रयोग में ला सकती है उसी से माणिक मुल्ला की भी हत्या कर सकती है किन्तु वह नारीसुलभ दुर्बलता के कारण पराजित हो जाती है।

और माणिक मुल्ला केवल एक कठपुतली है जो स्वयं कुछ भी चेतना नहीं रखते, चाहे जमुना उन्हें नमकीन पुआ खिलाकर अपनी मनमानी कर ले अथवा लिली अपने अधरों को माणिक मुल्ला के अधरों पर रख दे, किन्तु माणिक मुल्ला में न तो उसके लिए कोई 'सोज़' है न वेदना। दुर्भाग्य यह है कि वह कवि भी हैं, कहानी लिखते हैं और कहते भी हैं—शायद इसीलिए माणिक मुल्ला नपुंसक भी हैं, कायर भी हैं और व्यक्तित्वहीन भी—कौन जाने वह मोहल्ले के छोटे बच्चों को कहानियाँ क्यों सुनाते हैं। क्या वह आनेवाली सन्तान में—

1. विश्वासहीनता और आत्मनिष्ठा का अभाव भरना चाहते हैं—क्या वह दर्द जो वह अपनी कविताओं में व्यक्त करना चाहते हैं अथवा करते हैं, केवल इसलिए है कि वह किसी भी युवक को प्रेम का औचित्य न जुता सके?

2. क्या माणिक मुल्ला से एक प्रश्न किया जा सकता है और वह यह कि 'उनकी' धारणा नारी जगत् के बारे में क्या है? चाहे माणिक मुल्ला इसे मानें या न मानें, उनकी कथा-शैली से यह पता चलता है कि वह स्त्रियों से घृणा करते हैं क्योंकि जमुना, लिली, सत्ती और 'बूआ' के चरित्र-चित्रण में वह केवल वही पक्ष दिखाना चाहते हैं जो बुरा है—क्या स्त्रियों में कोई अच्छाई नहीं हो सकती?

NMDC-088

3. माणिक मुल्ला की शैली 'कल्पना' को आतंकित करनेवाली शैली है। तन्ना की लँगड़ी बहन का चित्रण केवल एक नाटकीय तनाव पैदा करने के लिए जोड़ा गया है। अन्तिम दृश्य की मार-पीट भी ऐसी ही है। वस्तुतः माणिक मुल्ला पर पीड़ावादी (सैडिस्ट) मनोवृत्ति की गहरी छाप है। वह स्वप्न में भी यही सब देखते हैं और यदि वह बुरा न मानें तो मैं कहूँगा कि वह कथा के तीसरे वृत्त के केन्द्रबिन्दु 'मैं' के रंग में रँगे हुए हैं।

4. माणिक मुल्ला के जीवन का न कोई लक्ष्य है न आदर्श। वह केवल एक अभिनेता हैं इसलिए जो किसी आदर्श पर टिकता है वह उसका उपहास करते हैं। उनकी शैली में आदर्श के प्रति व्यंग्य भरा पड़ा है यहाँ तक कि तन्ना की मृत्यु पर भी उन्हें शोक नहीं होता। अपने भीतर की उमस को दबाते हुए वह कुछ भी नहीं कहते। 'मैं' चाहे तो दलील पेश करे, किन्तु सत्य यह है कि माणिक मुल्ला आदर्शहीन व्यक्ति हैं।

5. उपन्यास के 'मैं' को चाहिए कि वह माणिक मुल्ला की शैली को न अपनाए क्योंकि किसी एक व्यक्ति को एक रंग में नहीं रँगना चाहिए। 'मैं' चिन्तनशील युवक है, उसे कहानी और कथा की शैली का पूर्ण ज्ञान है, इसीलिए वह माणिक मुल्ला से और सब कुछ सीख ले किन्तु तीन चीज़ों से बचे।

(अ) अपने दृष्टिकोण से पात्रों को न प्रस्तुत करके उनकी स्वाभाविकता पर ध्यान दे।

(ब) माणिक मुल्ला जैसे पलायनवादी व्यक्ति के सम्पर्क में केवल उनका अध्ययन करे किन्तु विशाल मानव-समाज को उनके माध्यम से न देखे।

(स) माणिक मुल्ला से नवयुवकों को बचाने की कोशिश करे क्योंकि माणिक मुल्ला में दम नहीं है, वह बिना कमर के व्यक्ति हैं।

मगर उपन्यास की शैली गठित और सुन्दर है, उसमें कहानी के प्रति उत्सुकता बनी रहती है, कथानक के वृत्तों में केन्द्रानुभूति, स्वाभाविक गति और चरमोत्कर्ष बराबर बना रहता है, वर्णन-शैली बड़ी ही रोचक और सुन्दर है; घटनाओं का विश्लेषण, पात्रों का आत्मदर्शन और निष्कर्ष अत्यधिक महत्त्व रखते हैं। जहाँ कहीं 'मैं' कवि बन गया है--जैसे लिली के रोमांस के वर्णन में अथवा तन्ना के कटे पैर के रूपक एवं प्रतीक में—वहाँ उसकी वाणी में हृदय को हिला देने वाली क्षमता भी है।

NMDC-088

'मैं की शैली में कहीं-कहीं खुरदरापन है और कहीं-कहीं वह आवश्यकता से ज़्यादा संक्षिप्त एवं कहीं-कहीं अत्यधिक भावुक बन गया है। 'मैं' में विवेचन शक्ति है किंतु विवेचन में सन्तुलन नहीं है। 'मैं' में एक दोष है और वह यह कि कहीं-कहीं पर अनावश्यक और अप्रासंगिक रूप में उसने किसी विशेष विचारधारा की ऐसी निन्दा की है जो उपन्यास से कोई सम्बन्ध नहीं रखता, जैसे 'मार्क्सवाद' पर कटाक्ष अथवा 'आदर्शवाद' पर व्यंग्य अथवा 'नारीसुलभ भावना' के प्रति उदासीनता इत्यादि इत्यादि...

'मै' की वर्णन-शैली में ऐसा लगता है जैसे वह पात्रों पर सन्देह करता है, जैसे कहीं-कहीं उसने जमुना और सत्ती के चरित्र-चित्रण में किया है। अनध्याय में 'मैं' ने सबके चरित्र का विश्लेषण किसी-न-किसी रूप में किया है किन्तु माणिक मुल्ला के प्रति उसका इतना मोह है कि कहीं भी उनका सन्तुलित विश्लेषण उसने नहीं होने दिया है।

अन्त में श्री अज्ञेय के शब्दों में यह मानना ही पड़ेगा कि–

"सूरज का सातवाँ घोड़ा एक कहानी में अनेक कहानियाँ नहीं, अनेक कहानियों में एक कहानी है। वह एक पूरे समाज का चित्र और आलोचन है; और जैसे उस समाज की अन्तःशक्तियाँ परस्पर सम्बद्ध, परस्पर आश्रित और परस्पर सम्भूत हैं वैसे ही उसकी कहानियाँ भी।"

शिल्प के दृष्टिकोण से सूरज का सातवाँ घोड़ा "हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता रहे"—यह कामना और उपन्यास का 'मैं' 'हम' में परिवर्तित हो जाए, बस।

NMDC-088

10. एक मुँहजोर घोड़ा और सूरज का रोशन गोला

देवेन्द्र इस्सर

जो पुस्तक कभी आपके सिरहाने के पास पड़ी रहती थी, वह साइड टेबल पर सरका दी जाती है। और फिर समय की धार में बहते-बहते वह धीरे-धीरे सरकती किसी कोने में पहुँच जाती है। उस पर धूल जमनी शुरू हो जाती है या वह दूसरी पुस्तकों के नीचे दबती चली जाती है। मुमकिन है, उसके गिर्द जाले भी बुने जा चुके हों। लेकिन यह भी सम्भव है कि वह आपके मतिष्क के किसी पोशीदा गोशे में गुमसुम चुपके से पड़ी हो—साँस रोके हुए कि न उसकी आवाज सुनाई दे और न उसमें कोई हरकत ही दिखाई दे। लेकिन वह आंपके दिलोदिमाग पर छा जाती है। आपके अनुभव-भाव विचार के संसार का जीवन्त अंश बन चुकी होती है। जाने-अनजाने आप उसके शब्द, उसके विचार, उसके जज़्बात, अपनी बातचीत, अपनी रचनाओं में बिखेरते रहते हैं। आप अनुभव करते हैं कि आप एक किताब नहीं, एक साथ कई किताबें पढ़ रहे हैं। और फिर कई परिन्दे अचानक एक साथ चहचहाने लगते हैं—

'देखो, अगर ज़िन्दगी में फूल न होते, बादल न होते, पवित्रता न होती, प्रकाश न होता, सिर्फ़ अँधेरा होता, कीचड़ होता, गन्दगी होती तो कितना अच्छा होता। हम सब उसमें कीड़े की तरह बिलबिलाते और मर जाते, कभी अन्तःकरण में किसी तरह छटपटाहट न होती। लेकिन बड़ा अभागा होता है वह दिन जिस दिन हमारी आत्मा पवित्रता की एक झलक पा लेती है, रोशनी का एक कण पा लेती है क्योंकि उसके बाद सदियों तक अँधेरे में क़ैद रहने पर भी रोशनी की प्यास उसमें मर नहीं पाती, उसे तड़पाती रहती है। वह अँधेरे से समझौता कर ले पर उसे चैन कभी नहीं मिलता।''

लगभग पैंतीस वर्ष पूर्व जब मैंने धर्मवीर भारती का उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पढ़ा तो उन दिनों 'उन्माद' कुछ कम हो गया था, लेकिन वे दिन जोशोखरोश के दिन थे। ऐसा महसूस होता था कि सूरज के सातवें घोड़े पर सवार सितारों से आगे सातवें आसमान पर उड़ रहे हैं। ये कहानियाँ, जो सात दोपहरों में सुनायी गयी हैं, सदियों से सुनायी जा रही है—अलग-अलग स्थितियों में अलग-अलग किरदारों के माध्यम से। लेकिन फिर भी सत्य का साक्षात्कार नहीं हो

NMDC-088

पाता और अगर उसकी एक झलक दिखाई भी दे जाए, तो शब्द उसका बयान करने में सक्षम नहीं होते। वे उसका बोझ सहन नहीं कर सकते। शायद यही कारण है कि जब ईसा मसीह से रोमन पाइलेट ने यह प्रश्न किया कि तुम अपने को सच्चाई का मसीहा कहते हो तो बताओ कि सच्चाई क्या है, तो वे मौन रहे। कोई उत्तर नहीं दिया।

इस उपन्यास के 'प्रोटेगोनिस्ट' माणिक मुल्ला के समक्ष बार-बार यह प्रश्न आता है कि सत्य क्या है? वह इसका उत्तर देने की कोशिश करते हैं। लेकिन संशय उन्हें घेर लेता है। और इस असफलता का सामना न कर पाने के कारण वह अपनी कहानियों में निष्कर्ष पर ज़ोर देते हैं। लेकिन यह आंशिक सत्यता विभ्रम उत्पन्न करती है। इसीलिए हर दोपहर को वह जो कहानी सुनाते हैं, तो उसका निष्कर्ष भी प्रस्तुत करते हैं। लेकिन फ़ौरन या बाद में उस पर प्रश्नचिन्ह भी लगा देते हैं। लेकिन सच फिर भी फिसल जाता है। अत: उपन्यासकार को अध्यायों का सहारा लेना पड़ता है—विचार-विमर्श और स्वप्न का।

शायद स्वप्न सत्य के अधिक निकट होते हैं, सहयात्री होते हैं। त्रासदी यह कि लोगों (और लेखकों) ने सपने देखना छोड़ दिया है। चेट्स ने अपने निधन से एक दिन पूर्व अपनी डायरी में लिखा था: "मनुष्य (सम्पूर्ण) सच्चाई को नहीं पा सकता। लेकिन वह उसे अभिव्यक्ति का रूप दे सकता है।" सत्य का कोई स्थूल यथार्थ रूप नहीं। धर्मवीर भारती ने इस कठिन डगर पर चलने का प्रयास किया है, बल्कि यों कहिए कि निकल पड़े हैं। यदि इसमें विरोधाभास दिखाई देता है, निष्कर्ष बदल जाते हैं तो इसका यही कारण है कि सच का कोई एक चेहरा नहीं। यह टूट हुए आईने में सहस्र चेहरों को प्रतिबिम्ब करता है।

दरअसल माणिक मुल्ला जो कहानियाँ सुनाते हैं वे कहानियाँ नहीं, मानव अनुभव के बिखरे टुकड़े हैं —"एक्सपेरिमेण्ट्स विद ट्रुथ'। ये मनुष्य के उस सफर-दर-सफर की दास्तानें हैं, जिसमें वह अपनी ही तलाश में चल रहा है। और इस सफ़र में वह नितान्त अकेला है। मैं क्या हूँ? मेरा असली चेहरा कौन-सा है? मेरे अस्तित्व के, मनुष्य होने के क्या अर्थ हैं? क्या शरीर से परे कोई आत्मा है? अस्तित्व से परे कोई सारतत्त्व है? बाह्य यथार्थ से परे कोई परायथार्थ है? मानव नियति एवं मुक्ति क्या है? दैवी या मानवी शक्ति में क्या अन्तर है? और ऐसे कई प्रश्न धर्मवीर भारती ने इतने 'सरेराह' या बजाहिर सरसरे अन्दाज़ में उठाये हैं कि

NMDC-088

पढ़ने के पुराने तरीक़ों से वे पाठ (टेक्स्ट) में दफन ही रह जाते हैं। इसके लिए 'क्लोज़ इण्टेसिंव रीडिंग' की ही नहीं, री-रीडिंग, री-री-रीडिंग की आवश्यकता है।

जब मैंने इस उपन्यास को पहली बार पढ़ा था तो मेरे जेहन में धुँधला-सा विचार ज़रूर आया कि यह उपन्यास अस्तित्ववादी चिन्तन का चित्रण करता है। ये मनुष्य की विषमावस्था एवं नैतिक पतन तथा दुविधा की कथाएँ हैं। इस दूसरी बात ने मुझे परेशान कर दिया है। नहीं, ये अस्तित्ववादी दर्शन को प्रदर्शित नहीं करतीं। माणिक मुल्ला अल्बेयर कामू का 'अजनबी' नहीं। वह तनहा, निस्सहाय, दहशत का डसा हुआ, सन्त्रस्त, थकामाँदा, हारा हुआ कोई बेगाना किरदार नहीं। यह स्थितप्रज्ञ-सा लगनेवाला चरित्र वास्तव में मानव-आत्मा की आदिम तृष्णा तथा तलाश का संवेदनशील सहयात्री है। उसके नैराश्य और हास्य की चिलमन के पीछे एक उद्विग्न आत्मा है जो विगत की ओर झाँकती है तो गहरे होते गम के धुँधलकों में गुम-सी होती दिखाई देती हैं जब वर्तमान में प्रवेश करती है तो बेचैन रहती है। लेकिन अनागत की बिजली-सी कौंधती कोई चीज़ उसे जीवनशक्ति की ललक देती है। निस्सार जीवन एवं निरर्थकता के घटाटोप अन्धकार में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आगे बढ़ता है। और आगे बढ़ता है और रोशनी के गोले में प्रवेश कर जाता है। शब्द जुगनुओं-से चमकने लगते हैं और तितलियों-से उड़ने लगते हैं।

चलिए, इस उपन्यास के पन्न पलटते हैं। पुस्तक कहीं से भी खोल लेते हैं। सातवीं दोपहर, शीर्षक है—'सूरज का सातवाँ घोड़ा', अर्थात् वह जो सपने भेजता है।

"अगले दिन मैं गया और माणिक मुल्ला से बताया कि मैंने यह सपना देखा है तो वे झल्ला गये। देखा है तो मैं क्या करूँ। जब देखो तब सपना देखा है, सपना देखा है।'' जब मैं चुप हो गया, तो माणिक मुल्ला उठकर मेरे पास आये और सान्त्वना भरे शब्दों में बोले, "ऐसे सपने तुम अक्सर देखते हो?'' मैंने कहा "हाँ'', तो बोले, "इसके मतलब हैं कि प्रकृति ने तुम्हें विशेष कार्य के लिए चुना है? यथार्थ ज़िन्दगी के बहुत से पहलुओं को, बहुत-सी चीज़ों के आन्तरिक सम्बन्ध को और उसके महत्त्व को तुम सपनों में एक ऐसे बिन्दु से खड़े होकर देखोगे जहाँ से दूसरे नहीं देख पाएँगे और फिर अपने सपनों को सरल भाषा में तुम सबके सामने रखोगे।'' मैंने सिर हिलाया कि हाँ, मैं समझ गया तो वे फिर बोले, "और जानते हो ये सपने सूरज के सातवें घोड़े के भेजे हुए हैं।''

NMDC-088

इस छोटी-सी इबारत ने मेरे मस्तिष्क में कई प्रश्न खड़े कर दिये। 'सपने', 'सूरज का सातवाँ घोड़ा', 'प्रकृति ने तुम्हें विशेष कार्य के लिए चुना है'। प्रकृति ने प्रत्येक लेखक, कलाकार और बहुत से दूसरे इन्सानों को विशेष काम के लिए चुना होता है।

अफसोस कि इनमें से बेशतर ने सपने देखना छोड़ दिया है। बेशतर ने अपने स्वप्न बेच दिये हैं—साहित्य और कला में भी और जीवन में भी जब कोई व्यक्ति स्वप्न देखना छोड़ देता है तो वह बेहिस, बेआवाज़, बेहरक़त, बेरंग, बेरस बेमुरव्वत और बेगाना हो जाता है। उसे भविष्य के रोशन हाथों की दस्तक सुनाई नहीं देती। एक अधिनायकवादी व्यवस्था की सबसे बड़ी इच्छा यह होती है कि वह मनुष्य से उसकी स्मृतियाँ छीन ले, उसे सपनों से रिक्त कर दे। क्योंकि जब तक स्वप्न और स्मृतियाँ हैं, मनुष्य की मानवता जीवित है। निदा फ़ाजली के शब्दों में :"रात और दिन के बीच/अभी सपना ज़िन्दा है/मरी नहीं अब तक/यह दुनिया ज़िन्दा है।''

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' सदैव याद दिलाता है कि जब तक मनुष्य के पास अतीत की यादें हैं, वर्तमान का चिन्तन है और भविष्य के सपने हैं तब तक दुनिया ज़िन्दा है। प्रकृति ने हमें जिस विशेष कार्य के लिए चुना है उसे हम सनक या मनोरोग समझते हैं। जब प्रति मनोचिकित्सक रोनॉल्ड डेविड लैंग से, जिसे 'पागलों का मसीहा' कहा गया है, एक तेरह वर्षीय लड़की के माता-पिता ने शिकायत की कि जब वे टी. वी. देख रहे होते हैं तो उनकी, लड़की बगैर कुछ बोले ख़ाली दीवार को देखती रहती हैं, तो लैंग ने कहा कि वह महज अपनी-अपनी रुचि का प्रश्न है। लड़की का दीवार देखना एक पुराना और सादा तरीका है, जिससे वह सोये बगैर जागते हुए अपने आसपास के परिवेश से अलग हो सकती है और ख़ाली दीवार पर अपनी स्मृतियाँ, अपने स्वप्न और कल्पना चित्र अंकित करती है। मैं उसे मनोविकार नहीं, वरदान मानता हूँ।

मैं कोई यथार्थवादी नहीं हूँ। और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' यथार्थवादी उपन्यास है (वाकई)। लेकिन इस यथार्थवाद के परदे में क्या व्याप्त है? इस किताब को दोबारा पढ़ने पर मैंने अनुभव किया कि बाह्य जगत् तो वजाहिर यथार्थ नज़र आता है, उससे परे भी कई आवाज़ें हैं, खुशबुएँ हैं, रंग हैं। और मैंने इसके शब्दों के पीछे अनसुनी ध्वनियों और दबी सिसकियों को सुनना शुरू कर दिया। जब पहली बार

NMDC-088

इस उपन्यास को पढ़ा था तो वह आयु 'यथार्थ' से रूबरू होने की थी, और सपने देखने तथा सजाने की भी (और कुछ-कुछ रूमान की रंगीनी की भी)। ये सब तत्व "सूरज का सातवाँ घोड़ा' में, माणिक मुल्ला के चरित्र में मौजूद थे। इसलिए उनसे फ़ौरन दोस्ती हो गयी। ज़िन्दगी यथार्थ और स्वप्न के बीच पेण्डुलम की भाँति अनवरत घूमती रहती थी—कभी दायें, कभी बायें। और किसी एक मुकाम, एक बिन्दु पर ठहरती ही नहीं थी। लेकिन बार-बार प्रश्न उठता था कि आखिर स्मृतियों और स्वप्नों के बीच, विगत और अनागत के बीच, नीड़ और नीले आकाश के बीच, सच और सपने का कोई वजूद है या सब कुछ लुप्त लम्हा-ए-मौजूद है। सब विभ्रम है, मायाजाल है। यह प्रश्न उस समय भी मौजूद था जब मैंने प्रथम बार इस उपन्यास को पढ़ा था और आज भी मौजूद है जब इसे दोबारा पढ़ चुका हूँ। लेकिन अब प्रश्न और भी कठिन हो गया है कि अब यथार्थ की ही नहीं, मनुष्य की परिकल्पना भी बदल गयी है। कभी बोद्रिलाई हाइपर रीयलिटी की बात की जाती है ओर कभी कम्प्यूटरी वर्चुअल रीयलिटी की और कभी इमेज रीयलिटी की। और इन सब रीयलिटियों में मनुष्य गुम होता जा रहा है।

इस उपन्यास की रीयलिटी क्या है? बाह्य अथवा आन्तरिक या दोनों। बाह्य यथार्थ के दो प्रतिरूप हैं - 1, राजनीति, जिसमें व्यक्ति अन्य का दमन करता है और उसकी अस्मिता तथा मानवता को मिटा देना चाहता है; 2. आन्तरिकता—अनुराग-इश्के मजाज़ी (लौकिक) के विपरीत इश्के हक़ीकी (अलौकिक) जिसमें इन्सान अपनी हस्ती मिटा देता है और अन्य में विलीन हो जाता है।

धर्मवीर भारती के विचार में मध्य वर्ग के दो रुचिकर विषय हैं –राजनीति और प्रेम। माणिक मुल्ला की जितनी दिलचस्पी राजनीति में थी उतनी ही प्रेम में भी थी। उपन्यास का एक पात्र कहता है : "घूम-फिरकर वार्ता राजनीति पर आ टिकेगी और जब राजनीति में दिलचस्पी खत्म होने लगेगी तो गोष्ठी की वार्ता प्रेम' पर आ टिकेगी। कम-से-कम मध्यवर्ग में तो इन दो विषयों के अलावा तीसरा विषय नहीं होता। माणिक मुल्ला का दखल जितना राजनीति में था उतना ही प्रेम में था, लेकिन जहाँ तक साहित्यिक वार्ता का प्रश्न था, वे प्रेम को तरजीह दिया करते थे।''

प्रेम की परिपूर्ति में कई प्रकार की आर्थिक तथा सामजिक कठिनाइयाँ आती हैं। उपन्यास में इस बात को कई बार उठाया गया है। शायद इसीलिए लेखक ने इन

NMDC-088

कहानियों को निष्कर्षवादी कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि माणिक मुल्ला इस बात पर विश्वास रखते थे कि जो राजनीतिक है वह निजी है और जो निजी है वह राजनीतिक है। माणिक मुल्ला कहते हैं : "जब मैं प्रेम पर आर्थिक प्रभाव की बात करता हूँ तो मेरा मतलब यह रहता है कि वास्तव में आर्थिक ढाँचा हमारे मन पर इतना अजब-सा प्रभाव डालता है कि मन की सारी भावनाएँ उससे स्वाधीन नहीं हो पातीं और हम जैसे लोग, जो न उच्च वर्ग के हैं न निम्न वर्ग के, उनके यहाँ रूढ़ियाँ, परम्पराएँ, मर्यादाएँ भी ऐसी पुरानी और विषाक्त हैं कि कुल मिलाकर हम सब पर ऐसा प्रभाव पड़ता है कि हम यन्त्र मात्र रह जाते हैं। हमारे अन्दर उदार और ऊँचे सपने ख़त्म हो जाते हैं और एक अजब-सी जड़ मूर्च्छना हम पर छा जाती है।''

जब राजनीति व्यक्ति के आत्म और उसकी नैतिकता तथा स्वप्नलोक से अलग हो जाती है तो वह निर्गम तथा विघटनकारी हो जाती है। जब वह किसी व्यक्ति, सम्प्रदाय या समूह के अहं और अहंकार तथा सत्ता प्राप्ति के षड्यन्त्र के गिर्द घूमने लगती है, तो समाज में मूल्यों का हनन तथा आत्म का विघटन उत्पन्न हो जाता है। इस संगीन यथार्थ और सूक्ष्म चेतना को कभी व्यंग्य से, कभी हास्य से, कभी यथार्थ चित्रण से और कभी दर्शन से, कभी रूमानी रंगीनी से उपन्यास के पाठ में जगह-जगह पर 'ग़ैर महसूस' तरीके से बिखेर दिया गया है।

लेकिन जैसे-जैसे कहानियों का सिलसिला आगे बढ़ता है, माणिक मुल्ला का अनुभव और 'सत्य का अन्वेषण' उसे इस तथ्य के रूबरू ला खड़ा करता है कि आर्थिक विषमताओं से मनुष्य ऊपर उठता है। प्रेम एक ऐसी अनुभूति तथा प्रक्रिया है जो पारदर्शी शीशे-सी शफ्फाक होती है और जो सारे बन्धन तोड़ देती है। माणिक मुल्ला के शब्दों में : "अब यही प्रेम की बात तो! यह सच है कि प्रेम आर्थिक स्थितियों से अनुशासित होता है, लेकिन मैंने जो जोश में कह दिया था कि प्रेम आर्थिक निर्भरता का ही दूसरा नाम है; यह केवल आंशिक सत्य है। इसे कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि प्यार आत्मा की गहराइयों में सोये हुए सौन्दर्य के संगीत को जगा देता है, हममें अजब-सी पवित्रता, नैतिक निष्ठा और प्रकाश भर देता है, आदि-आदि। लेकिन...हम सब परस्पराओं, सामाजिक परिस्थितियों, झूठे बन्धनों में इस तरह कसे हुए हैं कि उसे सामाजिक स्तर पर ग्रहण नहीं कर पाते, उसके लिए संघर्ष नहीं कर पाते और बाद में अपनी कायरता और विवशताओं पर सुनहरा पानी फेरकर उसे चमकाने की कोशिश करते रहते हैं और जो भी भावना

NMDC-088

हमारे सामाजिक जीवन की खाद नहीं बन पाती, ज़िन्दगी उसे झाड़-झंखाड़ की तरह उतार फेंकती है।''

इस प्रकार होती है ज़िन्दगी के त्रिकोण की रचना-(बाह्य) यथार्थ, (आन्तरिक) भावना तथा (आध्यात्मिक) संचेतना। मानव-जीवन तथा सृष्टि के ये ऐसे मूल एवं महत्त्वपूर्ण तथा सूक्ष्म प्रश्न हैं कि इन्हें आधुनिक पश्चिमी कहानी के पैटर्न में लिखना कठिन है। विशेषकर उस परिस्थिति में जब इनका सम्बन्ध भारतीय समाज, संस्कारों तथा किरदारों से हो। यह रवैया उस परम्परा में प्रामाणिकता प्राप्त करता है जिसमें कथा तथा क़िस्सागोई की रिवायत हो। जहाँ जीवन के सूक्ष्म-से-सूक्ष्म प्रश्न तथा निष्कर्ष कथाओं और क़िस्सों में बुन दिये जाते हैं। माणिक मुल्ला उस दास्तानगो की भाँति हैं, जो पेड़ के नीचे विभिन्न पात्रों और विचित्र वृत्तान्तों के ताने-बाने में जीवन और सृष्टि के रहस्यों से परदा उठा रहा है। माणिक मुल्ला हर दोपहर को एक कहानी सुनाते हैं। पहली दोपहर को माणिक जमुना को अपने प्रेम की दास्तान सुनाते हैं। दूसरी दोपहर को भी यह किस्सा जारी रहता है। लेकिन बहुत उलझ जाता है–कि जमुना की शादी तन्ना से क्यों नहीं हुई।...इस प्रकार यह सिलसिला सात दोपहरों तक जारी रहता है। वास्तव में यह अलग-अलग कहानियाँ एक कहानी के भिन्न रूप ही हैं जो एक सूत्र में पिरो दी गयी हैं। लेकिन यह ऐसी जादुई गुंजलक है कि जिसे जितना खोलने की कोशिश की जाए उतना ही उलझती चली जाती है।

यह ऐसी तकनीक है जिसमें हर तकनीक शामिल है : यह है "कथाचक्र के अन्तर्गत, निष्कर्षवादी कथाओं के रूप में कहा गया लघु उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' जिसे इस रूप में प्रस्तुत किया धर्मवीर भारती ने।'' यह 'कथासरित्सागर' का आधुनिकीकरण है? तकनीक को लेकर इस उपन्यास की बड़ी चर्चा हुई है। कुछेक ने इसमें कुछ नया पाया और इसे उपन्यास के स्वाभाविक विकास के लिए हानिकर बताया। स्वयं लेखक तकनीक को अधिक महत्त्व नहीं देता। जब माणिक मुल्ला से यह कहा जाता है कि ये कहानियाँ जो तुम कहते हो, बिल्कुल सीधे-सादे विवरण की भाँति होती हैं। उनमें कुछ काट-छाँट, कुछ टेकनीक भी होनी चाहिए तो माणिक उत्तर देते हैं—"टेकनीक! हाँ टेकनीक पर ज़्यादा जोर वही देता है जो कहीं-न-कहीं अपरिपक्व होता है, जो अभ्यास कर रहा है, जिसे उचित माध्यम नहीं मिल पाया, लेकिन फिर भी टेकनीक पर ध्यान देना बहुत स्वस्थ प्रवृत्ति है, बशर्ते कि वह अनुपात से अधिक न हो जाए।''

NMDC-088

उपन्यास में जो स्वप्न दिये गये हैं उनका विशेष महत्त्व है। ये समस्त स्वप्न उन कहानियों के टेक्स्ट में मौजूद 'अव्यक्त' अर्थों का संकेत देते हैं, जिनसे यह ज़िन्दगी इबारत है और जो ज़िन्दगी के विभिन्न पहलुओं की तस्वीरकशी करते हैं। उसकी निस्सारता से परदा उठाते हैं। मानवीय सम्बन्धों के विरोधों तथा तनाव को व्यक्त करते हैं तथा उनमें नयी सोच और दृष्टि प्रदान करते हैं। और सबसे बड़ी बात यह है कि कहानियों के प्रेम-प्रसंगों को व्यापक मानवीय रिश्तों और परिवेश से सम्पृक्त करके, गहराई में डूबकर, उनको नयी अर्थवत्ता से अवगत कराते हैं। इस प्रकार धर्मवीर भारती ने अतियथार्थवाद या चेतना प्रवाह की तकनीक को सीधे प्रयोग न करके स्वप्न और यथार्थ और अन्तश्चेतना का नया रूपगत संगम प्रस्तुत किया है।

मेरी पसन्द का कारण केवल तकनीक की नवीनता (या परम्परागत प्राचीनता) नहीं। यह अहम होने के बावजूद गौण है। बल्कि यह है कि उन्होंने किस सहजता से आत्म और सृष्टि से रहस्यों से धीरे-धीरे, नर्म स्वरों में, अधोस्वर में, परस्पर वार्ता के अन्दाज में, जिसे आजकल की शब्दावली में 'डिस्कोर्स' कहा जा रहा है, हमारा साक्षात्कार कराया है। और इस साक्षात्कार से जो छवि उभरकर सामने आती है, यह है सत्ती की। पाँचवी दोपहर की 'नायिका' जो उपन्यास के अन्त तक पहुँचते-पहुँचते समस्त वृत्तान्त को इच्छाशक्ति और नियति का कुरुक्षेत्र बना देती है। जिसमें न कोई अर्जुन है, न कृष्ण, न युधिष्ठिर, न द्रोणाचार्य, न भीष्म पितामह। बस निपट अकेले माणिक मुल्ला हैं—अपने तमाम तर्कों, निष्कर्षों और भावनाओं–विचारों एवं विवेक के बावजूद विस्मित, विभ्रमित, विचलित और विकल्पशून्य :

माणिक मुल्ला उसके पास बैठकर एक अजब-सी बात महसूस करते थे। इस मेहनत करनेवाली स्वाधीन लड़की के व्यक्तित्त्व में कुछ ऐसा था जो न पढ़ी-लिखी भावुक लिली में था और न अधपढ़ी दमित मन वाली जमुना में था। इसमें एक सहज, स्वस्थ ममता थी जो हमदर्दी चाहती थी, हमदर्दी देती थी। जिसकी मित्रता का अर्थ था एक-दूसरे के सुख-दुख, श्रम और उल्लास में हाथ बँटाना। उसमें कहीं से कोई गाँठ, कोई कमजोरी नहीं थी, कोई बन्धन नहीं था। उसका मन खुली धूप की तरह स्वच्छ था। अगर उसे लिली की तरह थोड़ी शिक्षा भी मिली होती तो सोने में सुहागा होता। मगर फिर भी उसमें जो कुछ था वह माणिक मुल्ला को आकाश के सपनों में विहार करने की प्रेरणा नहीं देता था, न उन्हें विकृतियों की अँधेरी खाइयों में गिराता था। वह उन्हें धरती पर सहज मानवीय भावना से जीने की प्रेरणा देती

NMDC-088

थी। वह कुछ ऐसी भावनाएँ जगाती थी जो ऐसी ही कोई मित्र संगिनी जगा सकती थी जो स्वाधीन हो, जो साहसी हो, जो मध्यवर्ग की मर्यादाओं की शीशे के पीछे सजी हुई गुड़िया की तरह बेजान और खोखली न हो। जो सृजन और श्रम में, सामाजिक जीवन में उचित भाग लेती हो, अपना उचित देय देती हो।

सत्ती के माध्यम से विशेषकर और अन्य नारी पात्रों के जरिए धर्मवीर भारती ने लिंग, पैतृक व्यवस्था, जाति (अधीनस्थ वर्ण) और वर्ग (पूँजीवाद) पर आधारित शोषण तथा विभाजन के प्रतिरोध तथा वर्चस्व की तनावपूर्ण स्थिति पर प्रकाश डाला है। लेकिन उन्होंने आजकल के प्रचलित रिडक्शनिस्ट, एसेंशियलिस्ट तथा एकवादी रवैये के बजाय 'फ़ेमिनीटीज़' की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है, जो उस दौर की आधुनिकता और आज की उत्तर-आधुनिकता से अलग तथा भिन्न है।

मुझे जो बात परेशान करती रही है वह मुल्ला की पूर्व निश्चित त्रासदी है। उसका भविष्य क्या है? क्या मानव विषमावस्था से मुक्ति का कोई मार्ग नहीं। क्या स्वप्नों की निष्फलता और जीवन की निरर्थकता से कोई निजात मुमकिन नही? क्या इन्सान ऐसी अन्तहीन अँधेरी सुरंग में दाखिल हो चुका है कि उस पार रोशनियों का कोई शहर नहीं ? आत्महत्या , आत्मसमर्पण, विद्रोह, पलायन—मनुष्य क्या करे? इस उपन्यास में तथाकथित निष्कर्षों से ज़्यादा जो मूल्यगत दुविधा है, वही इसकी शक्ति है। माणिक मुल्ला ने एक बार बातचीत के दौरान कहा : "हमारी ज़िंदगी में ज़रा-सी पर्त उखाड़कर देखो, तो हर तरफ़ इतनी गन्दगी और कीचड़ छिपा हुआ है कि सचमुच उस पर रोना आता है। लेकिन प्यारे बन्धुओ, मैं तो इतना रो चुका हूँ कि अब आँख में आँसू आता ही नहीं, अत: लाचार होकर हँसना पड़ता है। एक बात और है—जो लोग भावुक होते हैं, वे रो-धोकर रह जाते हैं, पर जो लोग हँसना सीख लेते हैं वे कभी-कभी हँसते-हँसते उस ज़िन्दगी को बदल भी डालते हैं।''

माणिक मुल्ला का अन्तिम कथन ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है: "जो लोग हँसना सीख लेते हैं, वे कभी-कभी हँसते-हँसते ज़िन्दगी को बदल भी डालते हैं।'' लेकिन इसे बदलेगा कौन?

और एक दिन चायखाने के बाहर, जहाँ भिखमंगों का जमघट लगा रहता है,माणिक मुल्ला ने सत्ती को देखा जो चमन ठाकुर को लकड़ी की एक गाड़ी में घसीटे लिये जा रही है। उसकी गोद में एक बच्चा है। श्याम बेनेगल ने इस दृश्य का चित्रण

NMDC-088

जिस अन्दाज़ में किया है, उसकी सरहदें जादुई यथार्थवाद से जा मिलती हैं। समस्त माहौल धुन्ध में लिपटा हुआ है। सत्ती इस धुन्ध में चल रही है। उस पथ पर जहाँ अँधेरा-ही-अँधेरा है। इस पार भी अँधेरा था। लेकिन रोशनी की एक किरण थी माणिक। लकड़ी की एक गाड़ी में कटे हुए हाथवाला विद्रूप आदमी अतीत की वह सड़ी हुई लाश है, जिसे सत्ती वर्तमान में घसीटने पर विवश है। सत्ती अब अपने आकर्षण और स्वाभिमान को खो चुकी है—बेबस, लाचार-बीमार, यौन हिंसा से विक्षिप्त, शारीरिक तथा मानसिक तौर पर आहत। उसका लड़का (भविष्य) जो पीछे-पीछे चल रहा है, एक बार मुड़कर पीछे देखता है और फिर दौड़कर धुन्ध में खो जाता है। और मुझे याद आती है बेनेगल की एक और फ़िल्म जब सारा गाँव जुल्म का खामोश तमाशाई बन जाता है, तो एक लड़का ज़मींदार के घर की खिड़की पर पत्थर फेंककर भाग जाता है। और फिर एक और फ़िल्म—ख्वाजा अहमद अब्बास की 'नक्सलाइट' का दृश्य, जब पुलिस मेगाफ़ोन पर ऐलान करती है कि यदि कोई और नक्सलाइट बचा हो तो सामने आ जाए, तो एक नन्हा-सा बच्चा अपने दोनों हाथ उठाकर सामने आ जाता है। यह वह लड़का है, जिसे हम बहुत पीछे छोड़ आये हैं लेकिन जिसकी परछाईं हमारी रूह के इर्द-गिर्द निरन्तर मँडराती रहती है, जो मन में जख्मी परिन्दे की भाँति फड़फड़ाता रहता है।

एक ओर लकड़ी की टूटी-फूटी गाड़ी है, जिस पर कटे हुए हाथ वाला बीमार बूढ़ा बैठा है, जिसे सत्ती घसीट रही है। और दूसरी तरफ़ सूरज का रथ है जिसे सात घोड़े दौड़ा रहे हैं। ज़िन्दगी इनके बीच ठिठकी-ठिठुरी हुई अपना रास्ता तलाश कर रही है। और याद आती है माणिक मुल्ला की बातें, उनके क़िस्से-कहानियाँ, उनके निष्कर्ष और उनकी दार्शनिक मुद्रा। और याद आते हैं उनके शब्द : "तो वास्तव में सूर्य के रथ को आगे बढ़ना ही है। तथा यह कि हमारे वर्ग-विगनित, अनैतिक, भ्रष्ट और अँधरे जीवन की गलियों में चलने से सूर्य का रथ काफ़ी टूट-फूट गया है और बेचारे घोड़ों की तो यह हालत है कि किसी की दुम कट गयी है, तो किसी का पैर उखड़ गया है, तो कोई सूखकर ठठरी हो गया है, तो किसी के खुर घायल हो गये हैं। अब बचा है सिर्फ़ एक घोड़ा, जिसके पंख अब भी साबुत हैं, जो सीना ताने, गर्दन उठाये आगे चल रहा है। वह घोड़ा है भविष्य का घोड़ा, तन्ना, जमुना और सत्ती के नन्हे निष्पाप बच्चों का घोड़ा, जिनकी ज़िन्दगी हमारी ज़िन्दगी से ज़्यादा पवित्रता की होगी, उसमें ज़्यादा प्रकाश होगा, ज़्यादा अमृत होगा। वही सातवाँ घोड़ा हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता

NMDC-088

है ताकि हम वह रास्ता बन सकें, जिन पर होकर भविष्य का घोड़ा आएगा। इतिहास के वे नये पन्ने लिख सकें, जिन पर अश्वमेध का दिग्विजयी घोड़ा दौड़ेगा। माणिक मुल्ला ने यह भी बताया कि यद्यपि बाकी सब घोड़े दुर्बल, रक्तहीन और विकलांग हैं, पर सातवाँ घोड़ा तेजस्वी और शौर्यवान है और हमें अपना ध्यान और अपनी आस्था उसी पर रखनी चाहिए''।

और यों खत्म हो जाती है यह दास्तान—और मुझे याद आती है हन्ना काहन की एक कविता:

मुँहजोर घोड़े पर सवारी करो/जिसके पंख जामुनी हैं/धारियाँ सुनहरी स्याह/सिवाय सिर के/जो सुर्ख है।

मुँहजोर घोड़े पर सवारी करो/आकश की ओर उड़ता हुआ/पंखों को मजबूती से थामे रखो/पेश्तर इसके कि तुम्हारी मृत्यु हो जाए।

जो भी कार्य अधूरा रह जाए/मुँहजोर घोड़े पर एक बार सवारी अवश्य करो/और सूर्य में प्रवेश कर जाओ।

और 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' यह सवाल छोड़ जाता है कि क्या कभी हम जंगली घोड़े पर सवार सूरज के दहकते रोशन गोले में प्रवेश करेंगे। शायद!

NMDC-088

11. प्रेम एक माध्यम

रणधीर सिन्हा

डॉ. धर्मवीर भारती का उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आकार में छोटा है किन्तु अपने प्रयास में विस्तृत और व्यंजनात्मक। आज के प्रतिप्रेक्ष्य में देखने पर इसके मूल्यांकन के सिलसिले में कई नयी बातें उभरकर सामने आती हैं। 'गुनाहों का देवता' के बाद भी प्रेम की निरन्तर गवेषणा में डॉ. भारती प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। इस गवेषणा के मार्ग पर उन्हें कहीं तृप्ति नहीं मिल पाती। कभी-कभी उनकी इस प्यास को देखकर आश्चर्य भी होता है। निस्सन्देह भारती के लिए प्रेम एक माध्यम है, जिसके द्वारा वे मानव-जीवन की गहराइयों में उतरकर नये मूल्यों की खोज करते हैं—उन मूल्यों की खोज जो जीवन को समझने के लिए सही दृष्टि का निर्माण करते हैं। सही परिवेश के सन्दर्भ में जीवन को समझना और समझाना, उसके उचित मूल्यों की स्थापना करना और उसके विकासमान चरित्र को सचाई का ठोस धरातल प्रदान करना ही उपन्यासकार का लक्ष्य है। भारती ने इस लक्ष्य को सहजता के साथ स्वीकार किया है।

प्रेम—निम्नमध्यवर्गीय प्रेम के सहारे जीवन की सचाई का चित्रण इस उपन्यास में किया गया है। निम्नमध्यवर्ग की विवशताओं से पूर्ण इस कृति में ज़िन्दगी, समाज, मानव-मूल्य, स्वतन्त्र दृष्टि और आत्मा की ईमानदारी के कई ऐसे उदाहरण प्रस्तुत हुए हैं जिन्हें एक साथ पाना कठिन ही मालूम पड़ता है। आदर्शवादी और यथार्थवादी दृष्टियों के बाद, सच्ची दृष्टि का सूत्रपात भारती के इस उपन्यास से होता है। यह सच्ची दृष्टि किंचित् विवेकजन्य भी है। एक अर्थ में वर्तमान कविता और कहानी में, या इनसे भी आगे आकर कहें तो वर्तमान जीवन में व्याप्त निराशा, अनास्था कुण्ठा या टूटन के चित्रण की परम्परा का आरम्भ इस उपन्यास से ही होता है। इस तरह यह उपन्यास अपनी एक परम्परा की भी स्थापना करता है, विशेषकर चिन्तन और भावभूमि के क्षेत्र में।

विषयवस्तु के सम्बन्ध में विचार करने पर एक पुरानी कहावत याद आ जाती है—'पुरानी बोतल में नयी शराब।' प्रेम की चर्चा आदि से अन्त तक है। माणिक मुल्ला ने कम-से-कम तीन लड़कियों से प्रेम किया है—जमुना, लिली और सत्ती से—सभी प्रेम असफल हैं। माणिक मुल्ला की ये प्रेम कहानियाँ हैं तो पुरानी लेकिन उनके अर्थ नये भी हैं और व्यापक भी। अर्थ की इस व्यापकता ने उपन्यास के सम्पूर्ण प्रभाव को बदल दिया है। उपन्यास की कथा ढाली तो पुरानी चाक पर ही गयी है मगर हाथ की कला

NMDC-088

ने उसके रूप को, सौन्दर्य को सर्वथा भिन्न बना दिया है। इसलिए उपन्यास उल्लेखनीय बन गया है।

उपन्यास को उल्लेखनीय बनाने में महत्त्वपूर्ण योग रहा है — सचाई का। जीवन की एक गहरी सचाई इसमें द्रष्टव्य है। निम्नमध्यवर्ग की सचाई इतनी सजीवता से चित्रित की गयी है कि उसका ऐसा चित्रण कम से उपन्यासों में देखने को मिलता है। बाहरी और भीतरी दोनों ही जीवनों का सच्चा रूप मूर्त हो उठा है। निम्नमध्यवर्गीय समाज की बाहरी झाँकी का एक उदाहरण द्रष्टव्य है: "तन्ना की बड़ी बहन, घर का काम-काज, झाड़ू-बुहारू, चौका-बरतन किया करती थी, मँझली बहन जिसके दोनों पाँवों की हड्डियाँ बचपन से ख़राब हो गयी थीं, या तो कोने में बैठी रहती थी या आँगन-भर में घिसल-घिसलकर सभी भाई-बहनों को गालियाँ देती रहती थी, सबसे छोटी बहन पंचम बनिया के यहाँ से तम्बाकू, चीनी, हल्दी, मिट्टी का तेल और मण्डी से अदरक, नीबू, हरी मिर्च, आलू और मूली वगैरह लाने में व्यस्त रहती थी। तन्ना उठकर पानी से सारा घर धोते थे, बाँस में झाड़ू बाँधकर घर भर का जाला पौंछते थे, हुक्का भरते थे, इतने में स्कूल का वक़्त हो जाता था। लेकिन खाना इतनी जल्दी कहाँ से बन सकता था, अत: बिना खाये ही स्कूल चले जाते थे।" बिना खाये स्कूल चले जाना शायद सम्पूर्ण निम्नमध्यवर्ग की सचाई का निष्कर्ष है। सामाजिक दायबोध से भी इन पंक्तियों का सम्बन्ध है। इनसे सामाजिक चेतना की सम्पृक्ति बलवती होती है। व्यक्ति और समाज को अलग-अलग रखकर नहीं सोचा जा सकता। इस उपन्यास में व्यक्ति और समाज एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। भारती ने व्यक्ति और समाज की अपनी परिभाषा गढ़ी है। व्यक्ति अपने आप में स्वतन्त्र होते हुए भी समाज की इकाई और इन दोनों को अलग-अलग मानकर चलना असंगत है। हम व्यक्ति को उसके रूप में सही-सही देखते हैं उसके सामाजिक पक्ष को स्वस्थ बनाने के लिए। इस उपन्यास के लेखनकाल के समय व्यक्ति और समाज को अलग-अलग रखकर सोचा जाता था। भारती ने प्रचलित परम्परा को छोड़कर एक नयी परम्परा का एक अर्थ में नियोजन किया है जिसमें व्यक्ति समाज से बाहर नहीं। इन दोनों के संघर्ष का अन्त इस उपन्यास में अभिव्यक्त हुआ है। भारती सदैव एक तीसरी राह को अपनाते हुए दिखाई देते हैं। वैसी सचाई की राह को, जो प्रगतिवाद से भिन्न है, तथाकथित प्रतिक्रियावाद से तो भिन्न है ही।

इसी सचाई के सन्दर्भ में निम्नमध्यवर्ग की बौद्धिक या भीतरी विवशता अपना पृथक् अस्तित्व रखती है। यह वर्ग विचारों से उलझा हुआ, ख़याली, मिथ्यादर्शी और कमज़ोर सपनों पर विश्वास जमाये हुए है। माणिक मुल्ला के ये शब्द ग़ौर करने लायक़ हैं : 'देखो

NMDC-088

ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं वरन् उस ज़िन्दगी का चित्रण करती हैं जिसे आज का निम्नमध्यवर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता इसीलिए इतना अनाचार, निराशा कटुता और अँधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। पर कोई-न-कोई ऐसी चीज़ है जिसने हमें हमेशा अँधेरा चीरकर आगे बढ़ने, समाज-व्यवस्था को बदलने और मानवता के सहज मूल्यों को पुनःस्थापित करने की ताकत और प्रेरणा दी है। चाहे उसे आत्मा कह लो चाहे कुछ और।'' माणिक मुल्ला सिद्धान्त छाँटते हैं, उस पर अमल नहीं करते, इसीलिए जमुना, लिली और सत्ती को भुलाने की चेष्टा कर भी उन्हें वे भुला नहीं पाते। प्रेम के हर मोर्चे पर वे ठहरकर हार जाते हैं अपनी कायरता के कारण। वे विचार बनाते हैं अपनी हारों से प्रेरणा ग्रहण कर, फलस्वरूप उनके विचारों में अन्तर्विरोध, ढोंग, ख़याली बहकावे और मिथ्यादर्शन दिखलाई पड़ते हैं। ठीक ही है निम्नमध्यवर्ग आर्थिक दबाव में तो पिसता ही है, हृदय और मस्तिष्क से भी टूटकर बिखरता हुआ मालूम पड़ता है। इस तरह इस सचाई में इस वर्ग को चारों ओर से टूटता हुआ दिखलाया गया है। यह सच है और यही सच इस उपन्यास की आत्मा है। इसी सचाई की करुणा पाठक को आदि से अन्त तक खींचती रहती है।

उपन्यास की प्रेम कहानियों से सम्बद्ध समस्याओं पर लेखक ने जहाँ-तहाँ विवेकमूलक दृष्टिकोण से विचार किया है। पुस्तक के चार अनध्याय पाठक को उपन्यास पढ़ने के क्रम में एक बौद्धिक दृष्टि अपनाने में सहायक सिद्ध होते हैं। पाठक कहीं भावुक न हो जाए या फिर उत्तेजित न हो जाए इसलिए ये अनध्याय उसे सहारा देते हैं —इससे भी अधिक कथा के घिसे-पिटे रूप को या पिचपिचेपन को काँट-छाँटकर सँवारते रहते हैं कभी भाव से, कभी दृष्टि से। जमुना की कथा अर्थात् माणिक मुल्ला की पहली प्रेम-कथा समाप्त होती है जमुना के वैधव्य से। फिर उसके बाद अनध्याय आता है जिसमें कथा सुननेवालों के वाद-विवाद का चित्रण हुआ है। इस वाद-विवाद को पढ़ लेने पर पाठक अधिक ताजा हो जाता है। वह जमुना के वैधव्य पर रोता नहीं, उदास नहीं होता वरन् उसका ध्यान विवाद के इन शब्दों पर ज़्यादा आ जाता है : "भई मेरे तो यही समझ में नहीं आया कि माणिक मुल्ला ने जमुना ऐसी नायिका की कहानी क्यों कही? शकुन्तला जैसी भोली-भाली या राधा जैसी पवित्र नायिका उठाते या अगर बड़े आधुनिक हैं तो सुनीता जैसी साहसी नायिका उठाते या देवसेना, शेखर की शशी-वशी तमाम टाइप मिल सकते थे।'' विवाद के ये शब्द पाठक को विचारने का अवसर देते हैं तब वह यह नहीं सोचता है जमुना पति के मरने पर ताँगेवाले के साथ क्यों रहने लगती है वरन् वह

NMDC-088

सोचता है जमुना निम्नमध्यवर्ग की एक विवशता है– एक सचाई है। आज का यह वर्ग साहसी नहीं है, आदर्शप्रिमी नहीं है फ़िर जमुना सही है, वास्तविक है—बनावटी नहीं। और पाठक के इस निर्णय से उपन्यास और भी अधिक प्रभावशाली मालूम पड़ता है। इस विवेकजन्य दृष्टिकोण के चलते व्यंग्य के अनेक धरातल उभरने लगते हैं। व्यंग्य के साथ-साथ समझने के संकेत, निर्देश और उपन्यास की आत्मा तक पहुँचने के आयाम भी झलकने लगते हैं। इसी विवाद में, जमुना की कथा के प्रसंग में ही, एक उल्लेखनीय व्यंग्य द्रष्टव्य है। " देखिए असल में इसकी मार्क्सवादी व्याख्या इस तरह हो सकती है। जमुना मानवता का प्रतीक है, मध्यवर्ग (माणिक मुल्ला) तथा सामन्त वर्ग (ज़मींदार) उसका उद्धार करने में असफल रहे, अन्त में श्रमिक वर्ग (रामधन) ने उसको नयी दिशा सुझायी।'' जमुना को माणिक मुल्ला न अपना सके, उसने दूसरे से विवाह किया और विधवा होने पर रामधन ताँगेवाले के साथ रहने लगी। वह (श्रमिक वर्ग) ताँगेवाले के साथ ही क्यों रह सकती थी? मध्यवर्ग के किसी और के साथ भी रह सकती थी। जमुना जैसी विधवाएँ मध्यवर्ग क्या उच्चवर्ग में भी चली जाती हैं मगर मार्क्सवादी व्याख्या के द्वारा उपन्यासकार ने व्याख्याकारों पर गहरा व्यंग्य किया है। प्रगतिवादी विचारकों की कमज़ोरियों पर, भारती ने इस व्यंग्य के माध्यम से, बड़ी तटस्थता से दृष्टिपात किया है। व्यंग्य की मार्मिकता जल्दी भूल नहीं पाती है।

उपन्यास का शिल्प ज़ोरदार है। इतना ज़ोरदार कि इसे शिल्पप्रधान उपन्यास भी माना जा सकता है। उपन्यास की कथा इस ढंग से कही गयी है कि उसमें प्रवाह, आकर्षण, जिज्ञासा, मानसिक आघात-प्रतिघात स्वत: आ गये हैं। माणिक मुल्ला सात दोपहर तक कहानियाँ सुनाते हैं। मुख्यत: जमुना, लिली और सत्ती की कहानियाँ। आखिर तक आते-आते ये सभी कहानियाँ माणिक मुल्ला से जुड़कर, उपन्यास के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। राहें एक ही मंजिल तक पहुँचाती हैं मगर इन राहों पर भटकने में एक ख़ास मज़ा पाठक को मिलता है। इन राहों को गढ़ने में भारती ने परिश्रम किया है—ये उनकी सूझ-बूझ और शिल्प-रचना की सफलता का परिचय देती हैं। कहने का लहजा आकर्षक है—अनावश्यक विस्तार से बचा हुआ संकेतात्मक शैली के प्रयोग से उपन्यास में बारीकी आयी है —लक्ष्य और भी पैना बन गया है। वर्णन, विवरण या विस्तार का अभाव खटकता नहीं, संकेत इतने व्यंजक हैं कि पाठक सब कुछ देख लेता है–माणिक मुल्ला, जमुना, लिली, सत्ती, तन्ना, महेसर दलाल, चमन ठाकुर—सभी के जीवन को अलग-अलग विस्तृत परिवेश में देख लेता है—कहीं अँधरे में उसे भटकना नहीं पड़ता। ये चरित्र उदात्त हो जाते हैं और सत्ती का चरित्र भुलाये नहीं भूलता। कहने के लहजे

NMDC-088

को बोलचाल की भाषा ज़्यादा साफ़ बनाती है—क़िस्सागोई का आनन्द भी मिलता है। उपन्यास में अनेक ख़ूबियाँ हैं। ख़ामियों की चर्चा ज़रूरी नहीं; कारण उपन्यास को समझना-समझाना ज़्यादा ज़रूरी है, क्योंकि भारती ने एक नयेपन को पुराने आवर्तों के बीच से बड़ी बारीकी से काढ़ा है। ऐसा काम ख़तरे से खाली नहीं। और भारती ऐसा जोखिम उठाते हैं — यह कम नहीं।

एक बात उपन्यास के नयेपन के बारे में बता देनी उचित है। इसके लेखन-काल में हिन्दी उपन्यास-क्षेत्र में दो ही शैलियों की प्रधानता थी। एक 'गोदान' की शैली और दूसरी 'शेखर—एक जीवनी' की शैली। अधिकाशंत: अच्छे उपन्यासकार जब इन्हीं शैलियों का अनुकरण कर रहे थे तब भारती ने इनसे भिन्न एक नयेपन की खोज की। यह नयापन उपन्यास के शिल्प और लक्ष्य में साफ़-साफ़ दृष्टिगोचर होता है। प्रेम के माध्यम से एक वर्ग (निम्नमध्यवर्ग) का पूरा चित्र जिस प्रकार यह उपन्यास हमारे सामने प्रस्तुत करता है, वैसा चित्र शेखर का प्रेम नहीं प्रस्तुत करता। शेखर का प्रेम समाज या वर्ग को नहीं केवल व्यक्ति को स्पष्ट करता है। इस तरह व्यक्ति को समाज से, आर्थिक न्यास को बौद्धिकता से, शारीरिकता को मन:स्थितियों से सम्पृक्त कर यह उपन्यास एक तीसरे माध्यम का अन्वेषण करने में सफल रहा है। इसमें जीवन का अपना खासा रंग है। वास्तविकता का दर्द है।

NMDC-088

12. सचमुच बहुत तेजस्वी है 'सूरज का सातवाँ घोड़ा'

राजकुमार गौतम

हिन्दी कविता, नाटक, कहानी, निबंध और उपन्यास को अपेक्षाकृत अल्प मात्रा में दिये गये अपने महत्वपूर्ण मगर लगभग प्रतिमाननुमा योगदान के लिए धर्मवीर भारती का हिन्दी साहित्य सदैव ऋणी रहेगा। 'कनुप्रिया', 'सात गीत वर्ष', 'ठण्डा लोहा' तथा 'दूसरा सप्तक' में संकलित कविताएँ ; 'अन्धायुग'(नाटक), 'बन्द गली का आख़िरी मकान' (कहानियाँ) तथा 'कहनी-अनकहनी', 'ठेले पर हिमालय', 'पश्यन्ती', 'मानव-मूल्य और साहित्य' (निबन्ध) आदि कृतियों के अलावा धर्मवीर भारती ने 'गुनाहों का देवता' तथा 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' शीर्षक से दो उपन्यास भी साहित्य-जगत को सौंपे हैं, जो इस विधा के लिए ऐसी अनोखी देन हैं जिसे धर्मवीर भारती ही हमें उपलब्ध करा सकते थे।

'सूरज का सातवाँ घोड़ा' सन् 1952 में प्रकाशित हुआ था। इससे पहले सन् 1949 में लेखक का पहला उपन्यास 'गुनाहों का देवता' प्रकाशित हो चुका था। पहले उपन्यास के रूप में एक किशोर जोड़े की अपरिपक्व-सी भावनाओं को पर्याप्त प्रेम-रंग देते हुए लेखक ने एक बेहद सफल कथा का ढाँचा तैयार किया था जिसे असंख्य पाठक मिले। यह हिन्दी के बहुपठित उपन्यासों में से एक है, इस बात में कोई शक नहीं। उसके बाद लेखक का दूसरा उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आया जो 'एक नये ढंग का लघु उपन्यास' के रूप में प्रकाशित हुआ। प्रसंगतः इस उपन्यास के प्रकाशित होने के चालीस वर्षों के बाद आज जब इस उपन्यास को पुनः पढ़ा जाता है तो उस समय से जुड़ी कई बातों की ओर एकाएक ध्यान चले जाना भी स्वाभाविक लगता है।

उन दिनों देश की आज़ादी एकदम ताज़ा थी। तमाम तरह की सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक पुनर्रचनाओं का माहौल सामने था। विचारधारा के स्तर पर इस सदी का शायद सबसे अधिक चुनौतीपूर्ण समय रहा है। प्रगतिशील साहित्य किसे माना जाए, इस पर साहित्य-जगत में खूब धूम-धड़ाका था। अपनी-अपनी मान्यताओं की पुष्टि और ध्वंस की प्रतिक्रियास्वरूप साहित्य को रचा-उजाड़ा जा रहा था। विचारधारा प्रमुख और मनुष्य गौण हुआ जा रहा था। दोनों विश्वयुद्धों की सुलगन अभी वातावरण में बसी हुई थी। साम्राज्यवाद अपना

NMDC-088

बिस्तर गोल कर रहा था और साम्यवाद अपने सबसे कट्टर शत्रु पूँजीवाद के सामने सीना तानकर खड़ा हो चुका था। ऐसे राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय माहौल में यदि सबसे अधिक उद्वेलित था तो केवल बुद्धिजीवी वर्ग जिसे मानव के जीवन को बेहतर बनाने की बाहरी आवश्यकताओं के साथ-साथ उसके अन्तर्मन की मज़बूती और उसकी सुन्दरता के निरन्तर विकास करने के लिए जरूरी कला-उपादानों की सुरक्षा भी करनी थी। विश्वस्तर पर मध्यवर्ग का व्यापक उदय भी उद्योगीकरण के बाद तेज़ी से हुआ था। दो पाटों के मध्य दबते-कुचलते-पिसते इस वंचित और और त्रस्त वर्ग पर तरसखाऊ क़िस्म का लेखन भी हो रहा था, उसके भविष्य को सुधारने के लिए उसे लड़ाकू बना देनेवाले चित्रण का भी लेखन हो रहा था और उसकी तमाम दमित आशाओं-महत्त्वाकांक्षाओं के शून्य होते जाने का भी लेखन सामने आ रहा था। हिन्दी में उन दिनों पढ़े-लिखे लेखकों की पीढ़ी सक्रिय थी जो विश्वस्तर के साहित्य और साहित्यिक बहसों से परिचित रहती थी। धर्मवीर भारती भी इसी पीढ़ी के कितने जागरूक रचनाकार रहे हैं, यह बात उनके तब लिखे उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' में अनेक सन्दर्भ पढ़कर भी जानी जा सकती है।

उपर्युक्त सचों के साथ-साथ इस उपन्यास-लेखन की पृष्ठभूमि में एक सच लेखक का निजी भी था और वह यह कि "सच बात तो यही है कि निम्न मध्यवर्ग की नितान्त 'आज' की कहानी लिखते समय मैं हज़ार-बारह सौ साल पहले के रहस्याच्छादित अतीत से इस कदर आक्रान्त था कि मेरे होश उड़े हुए थे। मैं उन दिनों अपने 'सिद्ध-साहित्य' के शोधकार्य में गले तक डूबा हुआ था। आप अन्दाजा लगाइए कि काम कितना जानलेवा रहा होगा। अनुमान से, इधर-उधर के बेहद बिखरे सूत्र जोड़कर पता लग पाया था कि ये चौरासी सिद्ध सचमुच हुए थे, इन्होंने अपभ्रंशमिश्रित आदिकालीन हिन्दी में चर्यापद और दोहे लिखे थे। एक तो आदिकालीन हिन्दी ही समझना मुश्किल, फिर उसमें अपभ्रंश भरी हुई और तिस पर तुर्रा ये कि ये अद्‌भुत लोग सीधी-सादी काव्यभाषा भी नहीं प्रयुक्त करते थे, इनकी भाषा 'सन्ध्या-भाषा' थी यानी प्रतीकात्मक भाषा और अगर इनके उपमानों के प्रतीकार्थ आपको नहीं मालूम तो व्याकरणगत अर्थ समझकर भी इनकी कविता का असली अर्थ आपके रंचमात्र पल्ले नहीं पड़ सकता था।'' इस उद्धरण को ध्यान से पढ़ने पर ऐसा लगता है कि लेखक ने इस शोध के दौरान उक्त तथ्यों में से रचनात्मक तत्त्व तो ग्रहण कर लिये हैं तथा रहस्याच्छादित एवं असम्प्रेषणीय होने की रचनात्मक बाधाओं को हटाकर उसने पर्याप्त खुले मन से 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' को

NMDC-088

प्रतीकात्मक रखते हुए ही सम्प्रेषणीय बनाया है। इस उपन्यास की भूमिका में अज्ञेयजी ने लिखा है कि उपन्यास की गठन में "यह सीधापन और पुरानापन इसलिए है कि आपको भारती की बात के प्रति एक खुलापन पैदा हो जाए; बात वह फुर्सत का वक़्त काटने या दिल बहलानेवाली नहीं है, हृदय को कचोटने, बुद्धि को झँझोड़कर रख देनेवाली है। मौलिकता अभूतपूर्व, पूर्ण शृंखला-विहीन नयेपन में नहीं, पुराने में नयी जान डालने में भी है; और भारती ने इस ऊपर से पुराने जान पड़नेवाले ढंग का भी बिल्कुल नया और हिन्दी में अनूठा उपयोग किया है। और वह केवल प्रयोग-कौतुक के लिए नहीं, बल्कि इसलिए कि वह जो कहना चाहते हैं, उसके लिए यह उपयुक्त ढंग है।''

भारती जी के इन उद्‌गारों पर भी प्रसंगत: यहाँ नज़र डाली जा सकती है कि : "गहरी निराशा का समय था वह जब उपन्यास लिखा गया था। आज़ादी आ गयी थी पर आज़ादी आने के साथ वे सपने चरितार्थ होते नहीं दीख रहे थे जिनके आधार पर गली-मुहल्ले ने आज़ादी की लड़ाई लड़ी थी। मुहल्ले में रामायण, भागवत गीता से लेकर गाँधी, विनोबा और कार्लमार्क्स तक की वाणी गुंजरित थी लेकिन अन्दर-ही-अन्दर एक गहरी ख़ामोशी में बेबस-सा हर परिवार टूटता चला जा रहा था। हर ज़िन्दगी नाकाम होती नज़र आ रही थी।''

और यदि देखा जाए तो यही वह बिन्दु है जिसके केन्द्र में 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आज चालीस वर्षों के बाद भी प्रासंगिक बनकर खड़ा हुआ है। मार्क्सवादी सत्ता की विफलतास्वरूप कई गढ़ ढह जाने के बावजूद आज भी आमजन का दर्द कमतर नहीं हुआ है। आर्थिक असमानता की खाई का पाट और-और तेज़ी से निरन्तर चौड़ा होता जा रहा है। आर्थिक असुरक्षा के कारण रिश्तों, परिवारों और सम्बन्धों में भयानक भूचाल आया हुआ है। निम्नमध्यवर्ग के प्रतिनिधि इस उपन्यास के कई पात्रों की आज भी गली-दर-गली ढूँढा और पाया जा सकता है। बहरहाल, पहले इस उपन्यास की कथा से थोड़ा परिचय प्राप्त कर लिया जाए।

यह उपन्यास 'माणिक (मुल्ला) कथा-चक्र के अन्तर्गत, निष्कर्षवादी कथाओं के रूप में कहा गया लघु-उपन्यास' बताया गया है जिसे 'इस रूप में प्रस्तुत किया धर्मवीर भारती ने।' अर्थात् यह उपन्यास माणिक और मैं (लेखक/नैरेटर) के संयुक्त प्रयास से पाठक के सामने लाया जाता है। इसमें 'मैं' तथा अन्य साथियों की श्रोता की भूमिका है तथा माणिक मुल्ला की कथा गायक की भूमिका है। ऊपर से पढ़कर

NMDC-088

देखने में यह माणिक मुल्ला की तीन प्रेमकथाओं (त्रासदियों) का सात दोपहरों में बताया गया एक क़िस्सा लगता है। इन क़िस्सों (कहानियों) में जमुना, लिली तथा सत्ती से जुड़ी कहानियाँ हैं; कुछ कहानियों के पूर्व 'उपोद्घात' या 'अनध्याय' शीर्षक रचना के अन्तर्गत लेखक का कथा-निर्देशन भी गुँथा हुआ है ताकि पाठक तक वह कहानी (उपन्यास) का सही-सही मंन्तव्य पहुँचा सके। यह शैली वास्तव में ठाले-बैठे गली-मुहल्लेवाले क़िस्सागो की ही है। जिसका लेखक ने यहाँ बेहतर इस्तेमाल किया है और अधिक विश्वसनीय होने के कारण इसकी पर्याप्त प्रशंसा भी हुई है।

जैसाकि पहले ही संकेत दिया जा चुका है कि यह उपन्यास निम्न-मध्यवर्ग के परिवारों की करुण गाथाएँ हैं। ये ऐसी ही गाथाएँ हैं जरूर, मगर इन्हें बाँधने और जाँचने का तरीका थोड़ा भिन्न है। इस उपन्यास की विशिष्ट टेकनीक, भाषा और लगभग तटस्थ होकर परिस्थितियों को देखकर उन पर निर्मम टिप्पणी करने को बाध्य नायक के पत्थर-दिल हो जाने की 'नियति' को लेखक ने अपनी ही तरह से साधने का रचनात्मक कौशल दिखाया है। समाज में व्याप्त विसंगतियों के द्वारा उत्पन्न भयानकतम परिणामों के प्रति एक बेहद ठण्डा या बचपनभरा-सा निष्कर्ष जो इन कथाओं के अन्त में निकला बताया गया है, उसकी विसंगति, विद्रूपता तथा अपर्याप्तता ही इन कहानियों का सबसे बड़ा कहना है और शायद यह लेखक की मात्र व्यंग्य-ललक नहीं है। माणिक मुल्ला अपनी प्रेमकथाओं की त्रासदियाँ सुनाते वक्त श्रोताओं (अर्थात् पाठकों) को प्रेम-कथाओं का नहीं बल्कि इस निम्न-मध्यवर्गीय समाज के अन्तराल में बलात् बसा दिये गये नरकों का ही वर्णन करते हैं जहाँ रहते-बसते हुए यह वर्ग दहेज, गोत्र, पैसा, वासना, अनमेल विवाह, हिंसा, अपाहिजताओं आदि की विसंगतियों को भुगतता है और सामाजिक अध्ययन के लिए भी यह उपन्यास बेहद विश्वसनीय सामग्री प्रस्तुत करता है।

दरअसल, माणिक मुल्ला लेखक की इस कथा का गायक (नायक) नहीं है बल्कि वह उसका एक अति सक्षम और संवेदनशील उपकरण ही है जिसके माध्यम से लेखक एक कथा को आड़ी-तिरछी करके अपनी सुविधा के हिसाब से उसे संचालित-प्रचारित करता है। राजनीति, प्रेम और साहित्य—ये तीन इस उपकरण के पसन्दीदा क्षेत्र हैं। इन पर वह दिखने में 'आकस्मिक' मगर बेहद सुचिन्तित टिप्पणी प्राय: किया करता है। वह विरही होकर कविताएँ भी लिखता है (लेखक की व्यंग्यपूर्ण मंशा!); कहानियों का उसका विशाल अध्ययन है तथा कथा-तत्त्वों पर भी उसके मौलिक विचार हैं। वह किसी भी कहानी से सामाजिक कल्याण के निष्कर्ष निकाल देने में

NMDC-088

समर्थ है। मगर यह सब हस्तक्षेप रखने के बावजूद लेखक ने माणिक को शुरू से लेकर अन्त तक अत्यन्त विश्वसनीय कथा गायक ही बनाये रखा है। किसी लेखक द्वारा अपनी प्रतिभा की अन्तिम बूँद तक अपने पात्र को दे सकना महान् लेखक का ही गुण हो सकता है और यहाँ यह गुण निस्सन्देह उपस्थित है। लेखक के 'उपकरण' होने के बावजूद माणिक यहाँ माणिक ही है। नैरेटर ने माणिक की बात को उसी की बात कहकर बताया है और इन दोनों के इस चरित्र का एक स्तरीय निर्वाह इस पूरे उपन्यास में दिखाई पड़ता है। प्रसंगत: हिन्दी के वरिष्ठ और श्रद्धेय उपन्यासकार जैनेन्द्र कुमार के उपन्यासों के पात्रों में लेखक की आत्मछाया ऐसी अमिट होती है कि बारम्बार उस चरित्र को पाठक मानो प्राणवायु देता प्रतीत होता है। लेखन की इस चूक का यहाँ नामोनिशान नहीं दीखता जो अन्तत: इसकी पठनीयता और विश्वसनीयता को मज़बूत करता है।

माणिक मुल्ला, जमुना, लिली और सत्ती के अलावा यह कृति (उपन्यास में कहानी और कहानी में उपन्यास) अपने दायरे में तन्ना, महेसर दलाल, रामधन, चमन ठाकुर, कम्मो तथा (जमुना के पति) ज़मींदार साहब के जीवन-प्रसंगों तथा उनसे सम्बंधित परिस्थितियों के ताने-बाने से बुनी गयी है। माणिक मुल्ला इसमें वर्णित कहानियों का लगभग निस्संग-सा नायक है। इन सबके बीच घट रहे नरकों का वह स्रष्टा नहीं, द्रष्टा है ! अपने खुद के समेत वह इन सब पात्रों को विवशता की भट्ठियों में चटखते देखता है, सब कुछ असामान्य, अस्वीकार्य को चुपचाप घट जाने देता है मगर कोई ठोस निर्णय लेने के बजाय, किसी सामाजिक उत्थान के विद्रूप निष्कर्ष पर पहुँचता है (खाओ, बदन बनाओ !)। वह न तो घोषित का पुरुष है और न ही पलायनवादी। वह उस बुद्धिजीवी वर्ग के छद्मों को भी उखाड़ता है जो अपनी बुद्धि का प्राय: धन्धा करते हैं तथा जिसके तहत प्रत्येक दुर्घटना का आदि और अन्त उनकी चिकनी-चुपड़ी टिप्पणियों के साथ परोस दिया जाता है। साथ ही वह प्रेम, सौन्दर्य तथा सत्य के आलस्य को तोड़कर इस वर्ग की जड़ता में खुलेपन के रंग-बिरंगे इन्द्रधनुष रोपना चाहता है। कथा सुनाने की सातवीं और अन्तिम दोपहर वह कहता है कि 'जो लोग सुखान्त उपन्यास के प्रेमी हैं, ये जमुना के जीवन के सुखद वैधव्य से प्रसन्न हों, स्वर्ग में तन्ना और जमुना के मिलन पर प्रसन्न हों, लिली के विवाह से प्रसन्न हों और सत्ती के चाकू से माणिक मुल्ला की जान बच जाने पर प्रसन्न हों और जो लोग दुखान्त के प्रेमी हैं, वे सत्ती के भिखारी जीवन पर दुखी हों, तन्ना की रेल-दुर्घटना पर दुखी हों,

NMDC-088

लिली और माणिक मुल्ला के अनन्त विरह पर दुखी हों। ..... जो प्रेम समाज की प्रगति और व्यक्ति के विकास का सहायक नहीं बन सकता, वह निरर्थक है। यही सत्य है।'

सचमुच यही प्रेम में सार्थकता और व्यक्ति-विकास में उसकी मदद के लिए इस पूरे निम्न-मध्यवर्गीय सड़े-गले समाज के जीर्णोद्धार के बीड़ा उठाने की ललक माणिक को सूरज के सातवें घोड़े तक ले आती है। माणिक नैरेटर से अन्त में इस बात का खुलासा यूँ करता है कि ये कहानियाँ वास्तव में प्रेम नहीं, वरन् उस ज़िन्दगी का चित्रण करती हैं जिसे आज का निम्न मध्यवर्ग जी रहा है। उसमें प्रेम से कहीं ज़्यादा महत्त्वपूर्ण हो गया है आज का आर्थिक संघर्ष, नैतिक विशृंखलता, इसीलिए इतना अनाचार, निराशा, कटुता और अँधेरा मध्यवर्ग पर छा गया है। .....हुआ यह कि हमारे वर्गविगलित, अनैतिक, भ्रष्ट और अँधरे जीवन की गलियों में चलने से सूर्य का रथ काफ़ी टूट-फूट गया है और बेचारे घोड़े की तो यह हालत है कि किसी की दुम कट गयी है तो किसी का पैर उखड़ गया है, तो कोई सूखकर ठठरी हो गया है, तो किसी के खुर घायल हो गये हैं। अब बचा है सिर्फ़ एक घोड़ा जिसके पंख अब भी साबित हैं, जो सीना ताने, गरदन उठाये आगे चल रहा है। वह घोड़ा है भविष्य का घोड़ा, तन्ना, जमुना, और सत्ती के नन्हे निष्पाप बच्चों का घोड़ा। वही सातवाँ घोड़ा हमारी पलकों में भविष्य के सपने और वर्तमान के नवीन आकलन भेजता है ताकि हम वह रास्ता बना सकें जिन पर होकर भविष्य का घोड़ा आएगा। माणिक मुल्ला ने यह भी बताया कि यद्यपि बाकी छह घोड़े दुर्बल-रक्तहीन और विकलांग हैं, पर सातवाँ घोड़ा तेजस्वी और शौर्यवान् है और हमें अपना ध्यान और अपनी आस्था उसी पर रखनी चाहिए।

मानवता से अटूट प्रेम, जीवन जीने के प्रति आस्था, परिस्थितियों में स्वयं पर व्यंग्य कर सकने का दुस्साहस, कल्पनाशीलता, बाह्य वास्तविकताओं के अनुकूल सोचने-समझने की सामर्थ्य, मनश्चेतनताओं के स्वप्नों का अध्ययन, उज्ज्वल भविष्य के प्रति अडिग विश्वास तथा मानवीय यन्त्रणाओं-वेदनाओं-भावनाओं-उद्वेगों में पगे शब्दों को वांछित ताप देने आदि के गुण ही किसी औपन्यासिक कृति को देर तक और दूर तक ले जाने में सक्षम होते हैं। 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' आज चालीस वर्षों के बाद भी पूर्ववत् दायित्व निबाहता प्रतीत होता है जो कि संघर्षशील इस

NMDC-088

निम्न-मध्यवर्ग के बेहतर भविष्य के प्रति विश्वास, आस्था और उमंग को दर्शाता है। इस वर्ग के यथार्थ का इतना सूक्ष्म और परिष्कृत चित्रण तथा मनुष्य की अमर जिजीविषा और विश्वास आदि ही 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' के रूप में बरसों निस्सन्देह हमारे साथ खड़े रहेंगे।

NMDC-088

और घटना किसी की सम्पत्ति नहीं हैं, वे प्रकृति और समाज में फैली होती हैं और कोई भी सचेत व्यक्ति उनका अहसास पा सकता है और आम तौर पर लोग उनसे परिचित होते हैं। किन्तु उन्हें एक खास अनुपात में रखना और किन्हीं खास बिन्दुओं पर बलाघात देना लेखक की अपनी वस्तु होती है और आम लोग उनसे परिचित नहीं होते। इसी बिन्दु पर लेखक वास्तविकता के विषय में हमारे बोध को समृद्ध और चेतना को उत्तेजित करता है। अनुपात और बलाघात के द्वारा ही औपन्यासिक वस्तु का निर्माण होता है, वास्तविक घटनाओं और दृश्यों के द्वारा नहीं।''

'राग दरबारी' की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता जो हमारा ध्यान आकर्षित करती है, वह है उसकी वस्तुओं, घटनाओं, दृश्यों, व्यक्तियों और कार्य-विधियों के वर्णन करने का खास ढब।

जैसे :

"वहीं एक ट्रक खड़ा था। उसे देखते ही यकीन हो जाता था, इसका जन्म केवल सड़कों के साथ बलात्कार करने के लिए हुआ है। जैसेकि सत्य के होते हैं, इस ट्रक के भी कई पहलू थे। पुलिसवाले उसे एक ओर से देखकर कह सकते थे कि वह सड़क के बीच में खड़ा है, दूसरी ओर से देखकर ड्राइवर कह सकता था कि वह सड़क के किनारे पर है। चालू फैशन के हिसाब से ड्राइवर ने ट्रक का दाहिना दरवाजा खोलकर डैने की तरह फैला दिया था। इससे ट्रक की खूबसूरती बढ़ गयी थी, साथ ही यह खतरा मिट गया था कि उसके होते हुए कोई दूसरी सवारी भी सड़क के ऊपर से निकल सकती है।''

"दारोगाजी गुनगुनाते हुए किसी को गाली देने लगे। थोड़ी देर में उसका यह मतलब निकला कि काम के मारे नाक में दम है। इतना काम है कि अपराधों की जाँच नहीं हो पाती। मुकदमों का चालान नहीं हो पाता, अदालतों में गवाही नहीं हो पाती। इतना काम है कि सारा काम ठप्प पड़ा है।''

"वैद्यजी थे, हैं और रहेंगे।

"अंग्रेज़ी के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देशी हुकूमत के दिनों में वे देशी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे।''

NMDC-088

13. 'राग दरबारी' व्यंग्य दृष्टि या व्यंग्य लीला (?)

नित्यानंद तिवारी

यह उपन्यास इस दृष्टि से तो महत्त्वपूर्ण है ही कि यह कथालोचना के क्षेत्र में कई प्रश्नों पर विचार करने के लिए उकसाता है। मसलन आद्यन्त उपहास का ढाँचा और लेखकीय सम्मान कितनी दूर तक और किस तरह से साहित्यिक उपलब्धि को प्रस्तावित करती है? क्या "राग दरबारी भी पाठक को झकझोरता है? वह हिन्दी-उपन्यास की माँगों को पूरा करे या न करे, उपन्यास जाये भाड़ में, वह कई अर्थों में हिन्दी-पाठक की उपलब्धि है।'' इतना मात्र कहकर काम चला लेना काफी है ? क्या उपन्यास का वास्तविक लगना और दस्तावेज होना पर्याप्त है? लेखकीय निस्संगता कैसी होती है? जो परिस्थितियाँ हमारी जिन्दगी में पैदा हुई हैं, उनके कारणों में लेखक भी आम और खास लोगों की तरह अपने को भी कहीं पाता है? या कि उन्हें झेलने-सहने में वह भी कहीं शामिल है या नहीं? इन बातों का जवाब कथाकृति में होना चाहिए या कम-से-कम इन सवालों का ताप उसमें व्याप्त होना चाहिए।

आलोचकों ने महसूस किया है कि "आज के भारतीय जीवन के ....विभिन्न स्थितियों के बड़े प्रभावी चित्र 'राग दरबारी' में हैं जो हमारे अतिपरिचित अनुभव को फिर से ताजा कर जाते हैं।'' (नेमिचन्द्र जैन)। "आजाद हिन्दुस्तान की राजनीति, इस दौर में चले विकास-कार्यों से, सरकार और उसकी नौकरशाही तथा दूसरे औजारों की गतिविधियों से इस दरम्यान किस तरह की औलादें पैदा हुई हैं, उनका व्यक्तित्व शास्त्र, नीति शास्त्र और **समाज शास्त्र क्या है- यही राग दरबारी** की वस्तु है।'' (कमलेश)। इन प्रबुद्ध **समीक्षकों के साक्ष्य पर कहा जा** सकता है कि 'राग दरबारी' की विषयवस्तु में वास्तविकता है। लेकिन कथा में जो दृश्य या चित्र अथवा घटनाएँ प्रस्तुत की जाती हैं, हो सकता है, वे देखने में बहुत वास्तविक लगें लेकिन **लेखकीय** धर्म का निर्वाह न होने के कारण, सम्भव है, वे अपनी वास्तविकता की **सम्भावित शक्ति** को खो दें। क्या 'राग दरबारी' के बारे में इस प्रश्न को उठाया जा सकता है ?

उपन्यास में वास्तविकता क्या घटनाओं और दृश्यों में होती है अथवा लेखक उनको सँजोने के लिए व्यवहृत अनुपात और बलाघात पर निर्भर करती हैं ? दृश्य

NMDC-088

"कुछ रुककर, वे समझाने के ढंग पर बोले, 'हमारी यूनियन में गबन नहीं हुआ था, इस कारण लोग हमें संदेह की दृष्टि से देखते थे। अब तो हम कह सकते हैं कि हम सच्चे आदमी हैं। गबन हुआ है और हमने छिपाया नहीं है। जैसा है, वैसा हमने बता दिया है।''

"उन दिनों गाँव में लेक्चर का मुख्य विषय खेती था। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि पहले कुछ और था। वास्तव में पिछले कई सालों से गाँववालों को फुसलाकर बताया जा रहा था कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है। गाँव वाले इसका विरोध नहीं करते थे, पर प्रत्येक वक्ता शुरू से यह मानकर चलता था कि गाँव वाले इस बात का विरोध करेंगे।..... मिसाल के लिए, समस्या थी कि भारतवर्ष एक खेतिहर देश है और किसान बदमाशी के कारण अधिक अन्न नहीं उपजाते।''

कुछ जरूरत से ज्यादा उद्धरण मैंने इसलिए दिया है कि इस उपन्यास में वर्णन का यह ढब आद्यन्त उभरा हुआ है। ढब हमेशा वर्णनकर्त्ता के विशेष बलाघात और कोण से पैदा होता है। चीजों, व्यक्तियों, और व्यापारों में निहित मखौल और उपहास-तत्त्व पर लेखक बल दे रहा है, इस बात को उपन्यास में साफ पहचाना जाता है। बड़ी-से-बड़ी और गम्भीर बात व्यवहार और योजना, मखौल और उपहासास्पद बन जाती है, यह आज की जिन्दगी और परिस्थिति की परिचित वास्तविकता है। लेकिन वास्तविकता के भी क्या दो पहलू नहीं होते ? मसलन ऊपरी और नितान्त परिचित वास्तविकता में एक रीतिवाद, फार्मूला और सम्भावनाहीनता होती है और उसके आन्तरिक विधान में सर्जनात्मक नवीनता और सम्भावना। क्या लेखक से इस बात की माँग की जानी चाहिए कि उसका बलाघात और कोण वास्तविकता के आन्तरिक विधान और संभावनात्मक पहलू के लिए ही हो ?

'राग दरबारी' में वर्णन का ढब इतना छाया हुआ और एक रूप है कि 30-40 पृष्ठों में ही वह फार्मूलेबाजी लगने लगता है। लेखक की संपृक्ति इस ढब में इतनी ज्यादा महसूस होने लगती है कि वास्तविकता से उसका सम्बन्ध छूटने लगता है। घटनाएँ चाहे छोटी हों या बड़ी, वे इस ढब के लिए इस्तेमाल की जाती हैं। बहुत कम महसूस होता है कि ढब और घटना या परिस्थिति का द्वन्द्व है। इस द्वन्द्व के बिना वस्तु का निर्माण नहीं होता। क्या यह कहा जा सकता है कि यह उपन्यास वस्तुहीन घटनाओं, कार्यों और चरित्रों का जंजाल है ? यह बड़ी दुःखद परिणति

NMDC-088

है क्योंकि लेखक के पास वह क्षमता है जिससे वह परिस्थिति को उघाड़कर वास्तविकता के आन्तरिक विधान को प्रस्तुत कर सके। उदाहरण के लिए :

"आज के भावुकतापूर्ण कथाकारों ने न जाने किससे सीखकर बार-बार कहा है कि दुःख मनुष्य को माँजता है। बात कुछ इतनी नहीं है। सच तो यह है कि दुःख मनुष्य को पहले फींचता है, फिर फींचकर निचोड़ता है, फिर निचोड़कर उसके चेहरे को घुग्घू जैसा बनाकर उस पर दो-चार काली सफेद लकीरें खींच देता है। फिर उसे सड़क पर लम्बे-लम्बे डगों से टहलने के लिए छोड़ देता है। दुःख इन्सान के साथ यही करता है और उसने गोंडा के रिक्शावाले के साथ भी यही किया था। पर शहरी रिक्शा वाले पर इसका कोई असर नहीं हुआ। सिगरेट फेंककर उसकी ओर बिना कोई ध्यान दिये, उसने अपना रिक्शा तेजी से आगे बढ़ाया।''

गोंडा के रिक्शावाले का वर्णन बहुत संक्षिप्त किन्तु पर्याप्त है, साथ ही शहरी रिक्शावाले का वर्णन बहुत फैला हुआ लेकिन बहुत अपर्याप्त है। कारण यह है? उद्धृत अंश के वर्णन के ढब और मानवीय दुःख का द्वन्द्व उभर जाता है जबकि शहरी रिक्शेवाले के साथ वर्णन का ढब स्थिति के साथ औपचारिक सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी कारण ढेर सारी मुद्राओं को बटोरकर भी कोई कथ्य नहीं उभारा जा सका। इन दोनों का वर्णन पढ़ते हुए कोई भी महसूस कर सकता है कि लेखक का ढब एक जगह स्वाद उभारता है तो दूसरी जगह तनाव। एक वर्णन में पाठक को मजा आता है तो दूसरे में सम्पृक्ति और बेचैनी। एक में लेखक पूरी तरह उपस्थित है (अपने ढब के साथ) फिर भी उदासीन (स्थिति के साथ), दूसरे में वह उपस्थित नहीं, व्याप्त है (क्योंकि ढब और स्वाद नहीं, करुणा और स्थिति का व्यंग्य उभरता है। पहले (शहरी रिक्शेवाले के) वर्णन में वस्तु अनुपस्थित है क्योंकि दृश्य या घटना बहाना है (और ढब सर्वशक्तिवान् तथा स्वतन्त्र) दूसरे में वस्तु है क्योंकि दृश्य और घटना के साथ ढब को द्वन्द्वात्मक रिश्ता कायम करना पड़ा है। इसीलिए गोंडा के रिक्शा वाले का वर्णन वास्तविक है और शहरी रिक्शावाले का ऊपर से वास्तविक लगता हुआ भी झूठा, इसी कारण कुरुचिपूर्ण और उबाऊ भी। एक वास्तविकता सम्भावनाहीन, फैली हुई और रीतिवादी है, दूसरी सम्भावनागर्भ, सघन और सर्जनात्मक। शहरी रिक्शावाले में एक किस्म का जो शोहदापन, बड़बड़ाहट, स्वाभिमान जैसा कुछ और अकड़ है, उसके साथ लेखक का सलूक कैसा है?

NMDC-088

व्यंग्यात्मक ? कतई नहीं। क्या वह निस्संग टिप्पणी है? नहीं, वह भी नहीं। उसमें एक वाक्य भी ऐसा नहीं जो उसकी विकृति के वास्तविक कारणों की टोह लेता हो और पाठक की वास्तविकता की धारणा को धार देता हो। लेखक उसके वर्णन में रुचि लेता है ताकि उसकी मुद्राओं के और लहजे के कई पहलुओं को उभारे। उसे कई ओर से उलट-पुलटकर देखता है। बद्री पहलवान की तरह लेखक खुद मजा लेता है और छोड़ देता है। अगर उसकी विकृति के कारणों की टोह लेनेवाला लेखकीय व्यवहार होता तो उसमें से 'कुछ' जारी होता जिसे सम्हालने-सहेजने में वस्तु का निर्माण होता। शहरी रिक्शेवाले के वर्णन में लेखक जहाँ और जिस कोण पर बल देता है उससे उसकी शोहदाई स्थिति के प्रति संगता और उस स्थिति के कारणों के प्रति निस्संगता प्रगट होती है। व्यंग्य और निस्संग टिप्पणी दोनों की सर्जनात्मक सार्थकता स्थिति के प्रति निस्संगता किन्तु उसके कारणों के प्रति गहरी सम्पृक्ति में प्रतिफलित होती है। गँवई रिक्शे वाले के वर्णन में संग-ता, निस्संगता का क्रम उलटा है, इसी कारण स्थिति को तोड़कर उसके नीचे की वास्तविकता के आन्तरिक विधान की झलक मिल जाती है। उसमें सम्भावना है जो विकसित होने का अवसर माँगती है, अभिमुखता है जो सम्बन्ध कायम करना चाहती है और वह परिपार्श्व भी उभारती है जहाँ से वास्तविकता की चेतना समृद्ध और धारदार बन सकती है। लेकिन दुःखद यही है कि घटनाओं और दृश्यों की इस सम्भावना के प्रति लेखक अक्सर उदासीन हो जाता है।

इस उपन्यास के सम्बन्ध में 'क्रीड़ा-दृष्टि' की चर्चा की गयी है जो परिस्थितियों में निहित मखौल को उघाड़ती है और स्वातंत्र्योत्तर यथार्थ को प्रस्तावित करती है। किन्तु विचार किया जा सकता है कि स्थितियों का 'लीलामय' विस्तार और लेखक की 'लीला-दृष्टि' परस्पर द्वन्द्वरत हैं या सहयोगरत ? यदि दृष्टि 'लीलामय यथार्थ' के साथ सहयोगरत है तो घटनाओं और दृश्यों के विवरणों का विस्तार अधिक होगा, उनके कई पहलुओं का उद्घाटन भी हो सकता है, दृश्य बड़ा यथार्थ लगेगा और अतिरिक्त सहानुभूति सम्पन्न आलोचक को 'राग दरबारी' में किसी साहित्यिक मानदंड के समीप होने की बजाय जिन्दगी के ज्यादा समीप होने की कोशिश है'' कहने की सुविधा भी होगी। उदाहरण के लिए :

"रात को पिछले पहर वैद्यजी को जाड़ा महसूस हुआ और उनकी नींद उचट गयी। च्यवनप्राश, स्वर्णभस्म और बादाम पाक आदि की मिली-जुली किलेबन्दी को तोड़कर जाड़ा उनकी खाल के भीतर घुस आया और मांस की मोटी तहों को भेदता

NMDC-088

हुआ हड्डियों की मज्जा तक जा पहुँचा। उन्होंने लिहाफ़ अच्छी तरह लपेटने की कोशिश की और उसी के साथ याद किया कि अकेले लेटने में बिस्तर ज्यादा ठंडा रहता है। इस याद के बाद यादों का एक ताँता-सा लग गया, जिसका व्यावहारिक लाभ यह हुआ कि उन्हें तन्द्रा ने घेर लिया। थोड़ी देर शान्ति रही, पर कुछ देर बाद ही पेट से अन्दर हवा ने क्रान्ति मचानी शुरू कर दी। जिस्म के ऊपरी और निचले हिस्सों से वह बार-बार विस्फोटक आवाजों में निकलने लगी। उन्होंने लिहाफ दबाकर करवट बदली और अन्त में क्रान्ति का एक अन्तिम विस्फोट सुनते हुए वे फिर तन्द्रालीन हो गये। देखते-देखते क्रान्ति की हवा कुतिया की तरह दुम हिलाती हुई सिर्फ उनके नथनों से खर्राटे के रूप में आने लगी, जाने लगी। वे सो गये। तब उन्होंने प्रजातन्त्र का सपना देखा।

...यह कहकर प्रजातन्त्र बैठक के बाहर चला गया और वैद्यजी की नींद दोबारा उचट गयी। जागते ही उन्होंने अपनी आन्तरिक क्रान्ति का एक ताजा विस्फोट लिहाफ के अन्दर पैताने की ओर सुना और एकदम तय किया कि देखने में चाहे कितना बाँगड़ लगे, पर प्रजातन्त्र भला आदमी है और अपना आदमी है और उसकी मदद करनी ही चाहिए। उसे कम-से-कम एक नया कपड़ा दे दिया जाय ताकि पाँच भले आदमियों में वह बैठने लायक हो जाय।''

यहाँ लेखक की क्रीड़ा-दृष्टि में किसे संदेह हो सकता है और भारतीय प्रजातन्त्र के क्रीड़ामय रूप से भी कौन अपरिचित है? वैद्यजी यदि स्वातंत्र्योत्तर भारत के लीलावतार हैं तो लेखक भी कम लीलाधर नहीं है। प्रजातन्त्र के प्रति सौजन्य भाव यदि वैद्यजी की लीला का रूप है तो इस सौजन्य के प्रति लेखक का भी लीलाभाव स्पष्ट है जो वैद्यजी की प्रजातान्त्रिक लीला के पीछे की धूर्तता और क्रूरता को उघाड़ सकता है। एक सीमा तक उघाड़ता भी है और वहाँ तक दोनों की लीलाओं का द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध है। लेकिन क्या यहाँ वर्णन में अतिरिक्त रसिकता भी नहीं है? ढब में क्या ऐसा कुछ भी नहीं है जो अलग से अपना स्वाद बनाये रखता है? और इसका उत्तर एक-दो उद्धरणों से देना सम्भव भी नहीं, पूरी कथा-रचना में क्या ढब और उसका स्वाद स्वतन्त्र भी नहीं है? अगर कोई 'राग दरबारी' में 'यथार्थवादी सपाटता' या द्वन्द्व की कम उपस्थिति पाता है तो क्या इसी कारण नहीं कि ढब और स्थितियों के बीच अपेक्षित द्वन्द्व बहुत कम है? 'राग दरबारी के पात्रों को यदि संशय नहीं सालते' तो इससे किसी को क्या शिकायत हो सकती है !

NMDC-088

शिकायत तो ढब और पात्रों की स्थिति के बीच द्वन्द्व है या नहीं, इसका संशय, लेखक को सालता है या नहीं, इससे हो सकती है।

कुशहर-प्रसंग, सनीचर द्वारा दूरबीन सिंह का संस्मरण सुनाना, गाँव में शहरी नेताओं का भाषण-प्रसंग, रुप्पन बाबू द्वारा ऊपरी कमरे का उपयोग-वर्णन, लंगड़ और नकल बाबू का संघर्ष, बेला को लेकर बड़ी और वैद्यजी के बीच संवाद, डिप्टी डायरेक्टर आफ एजूकेशन द्वारा कालिज के मामलों का जाँच-प्रसंग और छोटे-मोटे और कई प्रसंग उपन्यास में जिस दुनिया और माहौल को उपजाते हैं, वह क्या लेखक की व्यंग्य (?) दृष्टि की लीला नहीं है ? और क्या वैद्यजी की लीला के साथ लेखक की यह वर्णन-लीला सहयोग नहीं करती? इस सहयोग का प्रमाण है अतिरिक्त स्वाद। इस उपन्यास में गृहीत घटनाएँ, व्यापार और स्थितियाँ अगर रिवाज की तरह हैं और वास्तविक लगती हैं तो उनका वर्णन भी उपन्यास में रिवाज ही बन गया है। दृष्टि कभी रिवाज की तरह इस्तेमाल नहीं की जा सकती और लेखक की दृष्टि यदि व्यंग्य और क्रीड़ापरक है तो वह शैलीगत रूढ़ि नहीं बन सकती।

लेखक की लीला-शैली का अलग राग एक और घटना से प्रमाणित होता है। बेला के साथ रुप्पन बाबू के लस्तगे की बात उपन्यास में खूब जाहिर है लेकिन वास्तविक लस्तगा बद्री पहलवान के साथ है और लेखक इस वास्तविकता को यत्नपूर्वक छिपाये रहता है। काफी देर बाद वह खुलती है और सनसनीखेज असर डालती है। क्या यह घटना में व्याप्त लीला-स्वाद नहीं है ? या फिर गयादीन की भैंस का गरमाना और उसके बारे में बहुत ज्यादा विवरण देना क्या यह प्रमाणित नहीं करता कि लेखक उस दृश्य विशेष में रस ले रहा है? लेखक अपने वर्णन में अनुपात का ध्यान बहुत कम रख पाता है, यह एक बड़ा कारण है जिससे वस्तुनिर्मिति से अलग वर्णन की स्वतन्त्रता उभारने लगती है। वह वर्णन-शैली स्थिति के साथ द्वन्द्व करती-करती सहयोगी की-सी भूमिका अपनाने लगती है।

इसमें संदेह नहीं कि 'राग दरबारी' के लेखक के पास सक्षम भाषा है (स्थितियों को भेदने वाली), दृश्यों और घटनाओं की सही पहचान है लेकिन उनके साथ कितना खेलता है, उसके उचित अनुपात का बोध नहीं है। इसी कारण उसकी चोट का प्रभाव क्षीण होने लगता है। लेखक की नैतिकता इस बात में निहित है कि वह शैली और स्थिति के साथ कैसा रिश्ता कायम करता है। इस बात में नहीं कि वह किस बाहरी नैतिक दृष्टि पर विश्वास करता है और उसे अपने लेखन में प्रतिफलित

NMDC-088

करता है। 'अतिरंजना', 'अव्यवस्था के कारण-प्रतीकों पर चोट', 'वस्तुपरकता को त्याग देने का रास्ता' कुछ भी अपनाने के लिए लेखक उपस्थित परिस्थिति के अनुसार स्वतन्त्र हो सकता है लेकिन उस बिन्दु पर उसकी स्वतन्त्रता अनैतिक हो सकती है जहाँ से वस्तुनिर्मिति स्खलित होने लगे।

इस उपन्यास के किसी पात्र पर अवास्तविक होने का आरोप नहीं लगाया जा सकता। रंगनाथ, वैद्यजी, बद्री, रुप्पन, प्रिंसिपल—ये सभी हमारे समाज के जाने-पहचाने लोग हैं। लेकिन उपन्यासकार की चरितार्थता सम्भवत: इस बात में है कि वह इनके प्रति हमारे सलूक का कौन-सा पैटर्न या उन्हें महसूस करने का कौन-सा नया पार्श्व देता है। वह स्थिति और पात्रों में निहित सम्भावना का इस्तेमाल करती किसलिए है? अगर वास्तविकता तमाशाई हो गयी है तो उसका 'हूबहू' रूप तो लेखक चित्रित करेगा लेकिन पाठक का उसके साथ सलूक और उसे महसूसने की विधि क्या होगी? वास्तविकता के साथ पाठक की सहयोगिता किस रूप में हो, लेखक की सार्थकता और उपन्यास की वस्तु का उससे घनिष्ठ सम्बन्ध है। एक भारतीय लेखक, भारतीय वास्तविकता के तमाशाई रूप के प्रति तमाशाई रुख ही अख्तियार करे, क्या इसके औचित्य पर भी सवाल उठाया जा सकता है? क्या लेखकीय नैतिकता का इससे कोई सम्बन्ध है? अगर लेखक, मौजूदा भारतीय वास्तविकता के तमाशाई रूप के कारणों और उसके भार को झेलनेवाले लोगों में अपनी उपस्थिति को भी गहराई से महसूस करता हो तो अपराध-बोध और आक्रोश उसके वर्णन के स्वाद को किसी भी हालत में स्वायत्त हैसियत में नहीं बने रहने दे सकता। वैसी हालत में व्यंग्य और क्रीड़ा, दृष्टि होती और व्याप्त होती, वह स्वतन्त्र शैली न होती और अतिरिक्त रूप में अपनी उपस्थिति भी प्रदर्शित नहीं करती।

और क्या इसी कारण 'आज की हिन्दुस्तानी जिन्दगी की मुख्य धारा' और उसके अनेक पहलुओं की ठीक पहचान होने के बावजूद, व्यंग्य की तीखी ताकत का इस्तेमाल और 'भाषा के दो टूक' होने के बावजूद यह उपन्यास वास्तविकता का वह परिपार्श्व उभारते-उभारते रह जाता है जिसे 'वस्तु' कहते हैं? जिसमें पाठक अपनी हिस्सेदारी की समझ को उत्तेजित होता हुआ पाता है और इसमें असफलता क्या तमाम दूसरी सफलताओं और उपलब्धियों के होते हुए भी बहुत दु:खद नहीं है?

NMDC-088

14. छुद्रताओं के महा वृत्तांत से महानताओं की छुद्रता तक

वीरेन्द्र यादव

स्वातंत्र्योत्तर हिंन्दी उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल सम्भवत: उन चंद इने गिने उपन्यासकारों में से एक हैं, जिन्होंने 'साहित्यिक' और 'लोकप्रिय' के अंतर को मिटाते हुए औपन्यासिक आस्वाद की मौलिक शैली विकसित की है। लेकिन यह करते हुए वे अकेले ऐसे उपन्यासकार हैं, जिन्होंने आलोचकों के समक्ष एक संकट व असमंजस की स्थिति भी पैदा की। शायद 'राग दरबारी' द्वारा हिन्दी उपन्यास में यह पहली बार हुआ है कि आलोचकीय हिचक व संशय के बावजूद महज पाठकों की प्रशंसा के बल पर किसी औपन्यासिक कृति ने अपनी स्वीकृति कुछ इस तरह करायी है कि आज गम्भीर साहित्यिकों से ले कर समाजशास्त्रियों के बड़े समुदाय तक, यह अधिकांश की प्रथम कोटि की औपन्यासिक पसंद है। यद्यपि इस पसंद के अपने अलग-अलग कारण हैं, क्योंकि निर्मल वर्मा की 'कलात्मक' और डा. श्यामा चरण दुबे की 'समाजशास्त्री' पसंद के छोर भिन्न हैं। यदि उपन्यास की पसंद के इस ग्राफ में मार्क टुली जैसे प्रबुद्ध पाठकों को भी शामिल कर लिया जाय, जो इसे 'इंटरटेनिंग हिन्दी नावेल' करार देते हैं तो यह दायरा आम पाठकीय पसंद को भी छूने लगता है।

यहाँ यह तथ्य दिलचस्प है कि तीन दशक पूर्व राग दरबारी के प्रकाशन (1968) के तत्काल बाद श्रीपत राय ने अपने आलोचनात्मक लेख (कथा, सितम्बर 89) में इसे 'बहुत बड़ी ऊब का महाग्रंथ' व 'अतिशय उबानेवाली कुरुचिपूर्ण और कुरचित कृति' करार देते हुए यह भविष्यवाणी की थी कि 'यह अपठित रह जाएगी'। नेमिचंद्र जैन ने इसे 'असंतुष्ट, क्षुब्ध व्यक्ति की बेशुमार शिकायतों और खीझ भरे आक्षेपों का अंतहीन सिलसिला, करार दिया था। आज तीन दशकों के अंतराल के बाद इन आलोचकीय मंतव्यों को झुठलाते हुए इस उपन्यास ने एक साथ पाठकीय प्रशंसा, पठनीयता एवं साहित्यक स्वीकृति के विरल कीर्तिमान स्थापित किये हैं तो श्रीलाल शुक्ल की कथा दृष्टि की विवेचना निश्चित रूप से एक जटिल व दुविधाजन्य कार्य है और इसीलिए चुनौतीपूर्ण भी। निर्विवाद पठनीयता व साहित्यिक मूल्यवत्ता के बावजूद 'राग दरबारी' को ले कर आलोचकीय दुविधा आज भी दरपेश

NMDC-088

है, जिससे टकराए बिना 'राग दरबारी' और श्रीलाल शुक्ल के 'फेनामेना' को समझा नहीं जा सकता।

'राग दरबारी' मूलतः नकारवादी मुहावरे की रचना है, लेकिन उसका नकारवाद व्यक्तिगत कुंठा व निराशा का परिणाम न हो कर उन सामाजिक विद्रूपताओं व कुरूपताओं का परिणाम है, जिनकी भारतीय समाज में गहरी जड़ें है। इनका उद्घाटन करने के लिए श्रीलाल शुक्ल छुद्र व साधारण की सामाजिक पड़ताल करते हैं। छुद्रताओं का महावृत्तांत रचते हुए ही वे तंत्र की विकृतियों की पहचान करते हैं। जिस राजनीतिक समय में 'राग दरबारी' की रचना हुई थी, वह सम्पूर्ण नकार का दौर था। राजनीति के स्तर पर जहाँ डा. राममनोहर लोहिया इस नकारवाद के मुखर प्रवक्ता थे, वहीं साहित्य के स्तर पर राजकमल चौधरी व धूमिल सहित युवा रचनाकारों की बड़ी जमात इसे अपनी रचनाओं से अभिव्यक्त कर रही थी।

नेहरू युग से राजनीतिक मोहभंग, व्यक्तिगत कुंठा, संत्रास और हताशा के इसी दौर में अकहानी, श्मशानी व भूखी पीढ़ी जैसी साहित्यिक हलचलों का उदय हुआ। अमरीकी बीटनिक पीढ़ी के साहित्यिक पुरोधा व परम्परा द्रोही कवि ऐलन गिन्सबर्ग की युवा हिन्दी साहित्यिकों के बीच नायक पूजा का दौर भी यही था। उत्तर नेहरूवाद के इस आरम्भिक दौर में जनतंत्र कटघरे में था, कांग्रेस का एकाधिकार समाप्त हो रहा था, केन्द्रीयताएँ टूट रही थीं, नैतिकता, सदाचार, सच्चाई, कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी, परोपकार जैसे मानवीय व सामाजिक मूल्यों के प्रति अवज्ञा एवं अनास्था का भाव प्रबल हो रहा था। 'राग दरबारी' ऐसे ही सर्वनकारवादी व अनास्था के दौर की उपज है।

व्यापक अर्थों में 'राग दरबारी' नेहरू युगीन जनतंत्र का कामिक शैली में रचा गया 'क्रिटीक' है। यदि कामदी तत्व को थोड़ा परे रख कर इसका पाठ किया जा सके तो जनतंत्र की समालोचना के रूप में श्रीलाल शुक्ल की कथा दृष्टि राजकमल चौधरी और धूमिल के आस पास कहीं टिकती है। जनतंत्र के बारे में धूमिल की यह काव्य चिन्ता 'जनतंत्र, जिसकी रोज सैकड़ों बार हत्या होती है और हर बार वह भेड़ियों की जुबान पर जिन्दा है' (संसद से सड़क तक, पृष्ठ 48) और राजकमल चौधरी का 'मुक्ति प्रसंग' में यह उद्बोधन 'आदमी लिखे एबसर्डिटी का दर्शन विधान' 'राग दरबारी' में कथात्मक सम्पूर्णता प्राप्त करता है। व्यवस्था की गड़ांध, जनतांत्रिक मूल्यों का विघटन एवं नैतिक व सामाजिक अधःपतन का

NMDC-088

सर्वेनकारवादी विमर्श राजकमल चौधरी, धूमिल व श्रीलाल शुक्ल की रचना दृष्टि में अंतर्धारा के रूप में उपस्थित है। लेकिन इस अंतर के साथ कि जहाँ धूमिल और राजकमल चौधरी 'एंग्री यंग मैन' की शैली में जनतंत्र की समालोचना करते हुए जिस 'एक अदद आदमी' को अपनी रचनात्मक सहनुभूति के केन्द्र में रखते हैं, वहीं श्रीलाल शुक्ल कौतुक मुद्रा अपनाते हुए अपने 'सिनिकल' मुहावरे में उसी 'एक अदद आदमी' को अपने व्यंग्य बाणों का लक्ष्य बनाने से नहीं चूकते। यहीं से श्रीलाल शुक्ल और धूमिल के सादृश्य समाप्त होते हैं और पार्थक्य बिन्दु प्रारम्भ होते हैं।

यहाँ यह विरोधाभास दिलचस्प है कि 'भदेस' और 'नागरिक' तत्त्व श्रीलाल शुक्ल और धूमिल के रचनात्मक मुहावरे में अंतर्सूत्र के रूप में लगातार उपस्थित हैं, लेकिन दोनों के संदर्भ भिन्न और विरोधी हैं। जहाँ धूमिल 'भदेस' को रचनात्मक शक्ति के रूप में इस्तेमाल करते हुए 'नागरिकता' को कटघरे में खड़ा करते हैं, वहीं श्रीलाल शुक्ल नागरिकता के धरातल पर खड़े हो कर 'भदेस' की कपाल क्रिया करते हैं। धूमिल 'दुनिया के व्याकरण के खिलाफ' खड़े हो कर जहाँ यह बयान देते हैं कि 'जेल के बगल की नागरिकता/और बूचड़खाने के सामने की सज्जनता/मुझे विरासत में मिली थी' वहीं श्रीलाल शुक्ल नागरिक व्याकरण की उपेक्षा को कुछ यूं रेखांकित करते हैं .... "सुअरों के झुंड सड़क पर निकलते समय आदमियों की नकल करते। ये दायें बायें चलने का ख्याल न कर के सड़क पर निकलने वाली हर सवारी के ठीक आगे चलते हुए नजर आते और आपसी ठेलठाल में कालिज के लड़कों को भी मात देते।''

श्रीलाल शुक्ल की कथा दृष्टि की सर्वाधिक चौंकाने वाली बात उसमें कई विरुद्धों के सामंजस्य की उपस्थिति है। आभिजात्य व भदेस, नागरिकता व गंवारूपन, सार्वदेशिकता व स्थानिकता जिस खिलंदड़ेपन के साथ उनकी कथा दृष्टि में विलयित है, वह उनकी अपनी विशेषता है। दरअसल सच तो यह है कि आभिजात्य, नागरिक और सार्वदेशिक तत्त्व ही उनकी कथा दृष्टि की रचना करते हैं भदेस, गंवई और देशज तत्त्व इस कथादृष्टि की विषयवस्तु भर हैं। 'राग दरबारी' को लेकर जो आलोचकीय दुविधा है, उसके मूल में दृष्टि और विषयवस्तु की यह फांक ही है। उनके दो अन्य उपन्यास 'पहला पड़ाव' और 'सूनी घाटी का सूरज' भी कमोबेश इसी दुविधा से ग्रस्त है। श्रीलाल शुक्ल के नवीनतम उपन्यास 'बिस्रामपुर

NMDC-088

का संत' को लेकर यह आलोचकीय संशय इसीलिए नहीं है कि इसकी कथावस्तु और लेखकीय कथा दृष्टि में पूर्ण समन्वय है।

यहाँ यह तथ्य बेझिझक स्वीकार किया जाना चाहिए कि 'राग दरबारी' की पाठकीय स्वीकृति व प्रशंसा 'हाई कामेडी' के जिस मुहावरे पर टिकी है, वही इस उपन्यास की सबसे बड़ी बाधा है। अवध की वाक्पटुता व व्यंग्य विनोद में रची पगी इस उपन्यास की भाषा 'हाई कामेडी' का ऐसा रूप ग्रहण करती है, जहाँ सब कुछ प्रहसन में बदल जाता है। उपन्यासकार जीवन की हर स्थिति व परिस्थिति में कामदी तलाशता है, भूख, गरीबी, भ्रष्टाचार, बेरोजगारी अशिक्षा, खान पान, पहनावा, आचार व्यवहार सभी कुछ उसके व्यंग्य विनोद के लक्ष्य हैं। जहाँ विनोदी स्थितियाँ नहीं हैं, वहाँ वह उन्हें गढ़ता है। इस प्रकार यह उपन्यास व्यंग्य विनोद का ऐसा प्रति-संसार रचता है, जहाँ दुःख, करुणा, सहानुभूति और सामाजिक सरोकार दृश्य ओझल है, यहाँ यह तथ्य भी ध्यान देने योग्य है कि 'राग दरबारी' मात्र रूप के स्तर पर प्रहसन न हो कर अपने कथ्य को भी प्रहसनात्मक बनाता है। उपन्यास में छोटे पहलवान और कुसहर प्रसाद प्रसंग में बेटे द्वारा बाप की पिटाई को 'परिवार के सनातन धर्म' के रूप में प्रतिष्ठित करना कथ्य को प्रहसन में तब्दील करने का एक उदाहरण है।

क्षोभ और आक्रोश पैदा करने वाली जीवन स्थितियों को भी हंसोड़ बनाती 'राग दरबारी' की शैली 'हाई कामेडी' में अंतर्निहित उस त्रासद करुणा का विलोप कर देती है, जो इसे सार्थक व सकारात्मक रूप देते हुए सामाजिक विसंगतियों को चिह्नित करने का सशक्त माध्यम बन सकती है। इसी संदर्भ में पुश्किन ने कहा था, 'हाई कामेडी सिर्फ हास्य में ही नहीं होती, बल्कि यह चरित्रों के विकास में होती है और अक्सर यह त्रासदी के सन्निकट होती है।'' गोगोल ने अपने उपन्यास 'डेड सोल्स' और चार्ली चैपलिन ने अपनी फिल्मों में इसी त्रासद हास्य का मुहावरा अपनाया है। प्रेमचंद के कथा संसार में भी हास्यजनित करुणा की भरपूर उपस्थिति है। होली के अवसर पर गाँव में सारी रात चले व्यंग्य विनोद के बारे में 'गोदान' में प्रेमचंद यूँ टिप्पणी करते हैं: "..... इसी तरह नोखेराम और पटेश्वरी और दातादीन की बारी-बारी से सबकी खबर ली गयी, और फबतियों में चाहे कोई नयापन न हो और नकलें पुरानी हों: लेकिन गिरधारी का ढंग ऐसा हास्यजनक था, दर्शक इतने सरल हृदय थे कि बेबात की बात में भी हँसते थे। रात भर भंड़ैती होती रही और सताए हुए दिल, कल्पना में प्रतिशोध पा कर प्रसन्न होते रहे।'' दरअसल यही है वह सामाजिक परिप्रेक्ष्य जहाँ से ' हाई कामेडी' का सौन्दर्यशास्त्र

NMDC-088

निर्मित होता है। निराला के 'बिल्लेसुर बकरिहा' और 'कुल्ली भाट' के त्रासद हास्य का प्ररिप्रेक्ष्य भी यही है, जहाँ बकौल डा. राम विलास शर्मा "हास्य में संयम है, अट्टहास नहीं है, अधिकतर होठों पर खेलती हुई मुसकान है।" (निराला की साहित्य साधना-भाग-दो, पृ. 481)

'राग दरबारी' का हास्य संयमविहीन हास्य है, जहाँ उपन्यासकार स्थितियों को हास्य के अनुकूल बनाने में असमर्थ होने पर, भाषा से हास्य की रचना करता है। 'राग दरबारी' में लहूलुहान चोट खाये विलाप करते बूढ़े का शब्द चित्र देखिए: "अचानक 'हाउ-हाउ' सामने आ गया। वह लगभग साठ साल का एक बुड्ढा आदमी था। देह से मजबूत। नंगे बदन। पहलवानी ढंग से घुटनों तक धोती बांधे हुए। उसके सिर पर तीन चोटें थीं और तीनों से अलग-अलग दिशाओं में खूब बह कर दिखा रहा था कि यह एक तरह का खून भी आपस में मिलना पसंद नहीं करता। वह जोर-जोर से 'हाउ-हाउ' करता हुआ, दोनों हाथ उठा कर हमदर्दी की भीख मांग रहा था।..... 'हाउ-हाउ' अब द्रुत लय छोड़ कर विलम्बित की तरफ आने लगा और बाद में बड़े ही ठस किस्म की ताल में अटक गया। ऐसी बात गायकी की पद्धति के हिसाब से उल्टी पड़ती थी, मतलब साफ था कि वे उखड़ नहीं रहे हैं बल्कि जम कर बैठ रहे हैं।"

भाषा से उपजी संयमविहीन व्यंग्य की एक बानगी कुछ यूं है: "वे महिलाएँ पाखाने की कार्रवाई को एकदम से स्थगित कर सीधी खड़ी हो गयीं और उन्हें "गार्ड आफ आनर' जैसा देने लगीं।" यहाँ श्रीलाल शुक्ल की कथा भाषा मात्र संवाहक की भूमिका न अदा कर स्वयं में कथ्य बन जाती है, वह एक नया 'एक्टिविज्म' (सक्रियत्व) धारण कर लेती है। भाषा की वह अतिरिक्त सक्रियता लेखकीय अतिकथन की माँग करती है, जिसकी पूर्ति हेतु उपन्यासकार ने 'राग दरबारी' में रंगनाथ के रूप में सूत्रधार का सृजन किया है। लेखकीय अतिकथन की डोर जहाँ सूत्रधार के हाथ से छूटती दीखती है, वहाँ लेखक नेपथ्य में उपस्थित हो कर कथा सूत्र को स्वयं संभाल लेता है। यह प्रविधि उनके अन्य उपन्यासों में भी है। 'पहला पड़ाव' में सूत्रधार और लेखक का यह द्वैत समाप्त हो जाता है और उपन्यास का केन्द्रीय पात्र सत्ते उर्फ संतोष कुमार इन दोनों भूमिकाओं का निर्वाह एक साथ करता है। 'सूनी घाटी का सूरज' का रामदास तो उपन्यास लेखक की ही भूमिका में उतर कर आत्मकथात्मक औपन्यासिक वृत्तांत लिख डालता है। वास्तविकता तो यह है कि 'राग दरबारी' का रंगनाथ, 'पहला पड़ाव' का सत्ते और 'सूनी घाटी

NMDC-088

का सूरज' का रामदास ये तीनों ही औपन्यासिक पात्र के आवरण में लेखकीय उपस्थिति हैं। यह अकारण नहीं है कि ये तीनों ही अंग्रेजी के मुहावरे में रचे पगे और संस्कृत बोलने में सक्षम हैं और क्रमशः इतिहास, राजनीतिशास्त्र और अर्थशास्त्र में एम.ए. करने के बाद उच्च शिक्षाकांक्षी हैं।

इन तीनों कथानायकों की कल्पनाएँ महत्वांकाक्षाएँ व निराशाएँ इतनी उच्च व वैश्विक हैं कि यह उनकी सामाजिक स्थिति व बौद्धिक संरचना से बेमेल है। रंगनाथ 'सोफिया लारेन और एलिजाबेथ टेलर का ध्यान' करता है, रविशंकर का संगीत सुनता है और इंडोलाजी में शोध करते हुए 'मार्शल, कनिंघम, विण्टरनित्ज, कीथ, परसी ब्राउन, काशी प्रसाद जायसवाल व भंडारकर का अध्ययन करता है।' 'पहला पड़ाव' का सत्ते यूं तो अपने झोले में 'भांग की पकौड़ी' नामक एक फटी हुई किताब रखता है जिसमें 'एक नाजनीं हसीना को भांग की पकौड़ी खिला कर उसके साथ की गयी लीलाओं का सचित्र वर्णन था' लेकिन वह उपमाएँ नीत्से व कालिदास की देता है और शेक्सपियर के हैमलेट की तरह संशयालु होता है, "मैं अपना ही हैमलेट बन गया और यह करूं या वह करूं या न करूं के झमेले में डूबने लगा।'' (पहला पड़ाव) ठेकेदार की मेटगिरी करते हुए भी सत्ते किसी आई.ए.एस सरीखा व्यवहार करता है, "मेरी कोशिश होती थी कि मैं.. उन्हें वैसी ही हिकारत से देखूं ,जो एक नये आई.ए.एस. अफसर को किसी पुराने घिसे पिटे टेक्नोक्रेट के लिए दिखानी चाहिए।'' और उसे 'विदेशी कारों में ब्यूक, मर्सिडीज, क्रिसलर, टायोटा, डाटसुन आदि के नाम याद' थे पर उसने 'देखी सिर्फ एक ही गाड़ी थी, जिसका नाम इम्पाला था।' सत्ते की कुँठाएँ भी साधारण न हो कर आभिजात्य और भव्य थीं। सत्ते के ही शब्दों में, "अपने पर बड़ी ग्लानि हुई। एक वे हैं जिनके आप अस्सी साल की उम्र में गवर्नर बन जाते हैं, खुद प्लानिंग कमीशन की मेम्बरी हथिया लेते हैं, बीवी राज्यसभा की सदस्य हो जाती है। होटल की लकदक नौकरी करते-करते कोई मोहतरमा अचानक विधायक बन जाती है और उसी के दूसरे दिन मंत्री बन कर हमें देश की अखंडता और एकता की सीख देने लगती है। विलायत से लौटते ही कोई अचानक दिल्ली में किसी संस्था का चेयरमैन हो जाता है.... इंडिया इंटरनेशनल सेन्टर में लंच खाते-खाते कोई कूद कर कहीं राजदूत बन जाता है....'' (पृष्ठ 158), 'सूनी घाटी का सूरज' के रामदास की कुंठा है: "अपने मित्रों में सब अपने- अपने वंश की प्रतिभा और क्षमता के सहारे बढ़ रहे हैं। ..... श्याम मोहन की कंपनी की मोटरें दिन पर

NMDC-088

'दिन बिकती जाती हैं..... उसने ट्रैक्टरों की एक नयी एजेन्सी भी ले रखी है।''
"राजधर अपने पिता की जनप्रियता से लाभान्वित हो कर विधानसभा में पहुँचने वाला है। मंत्रिमंडल में पहुँचने की आशा करता है।'' (पृ. 111) दरअसल रंगनाथ, सत्ते और रामदास की ये कुँठाएँ एवं उच्च व आभिजात्यवर्गीय महत्वाकांक्षाएँ पात्रों की अपनी सामाजिक स्थितियों का परिणाम न हो कर उपन्यासकार की अपनी वर्ग अभिव्यक्तियाँ है, जो इन पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त होती हैं। इन पात्रों की अति बौद्धिकता, सवर्ज्ञता और सार्वदेशिकता के मूल में पात्रों के भीतर लेखकीय काया प्रवेश ही है। इसी लेखकीय काया प्रवेश का परिणाम है कि इन तीनों उपन्यासों में साहित्यिक संदर्भ, अंग्रेजी मुहावरे, वैश्विक सरोकार और आभिजात्य अभिव्यक्तियाँ जहाँ तहाँ बिखरी पड़ी हैं।

यहाँ यह स्वीकार करना होगा कि श्रीलाल शुक्त अंग्रेजी मुहावरे के कथाकार हैं और उनकी पसंद आभिजात्यवर्गीय है। देशज यथार्थ के प्रति वे एक आलोचनात्मक दृष्टि रखते हैं, जो अंतत: निन्दात्मक स्तर को छूने लगता है। आभिजात्यवर्गीय रुख अपनाते हुए अंग्रेजी मुहावरे में निन्दात्मक नकार के जिस धरातल पर खड़े हो कर वे भारतीय यथार्थ को देखते हैं वह रुड्यार्ड किपलिंग, ई.एम. फार्स्टर, नीरद सी. चौधरी और वी.एस. नायपाल के काफी कुछ सन्निकट है। श्रीलाल शुक्ल भारतीय यथार्थ के प्रति अपने दृष्टि कोण से अनभिज्ञ भी नहीं हैं। अपने इस दृष्टिकोण को कथात्मक तार्किकता देने हेतु ही वे 'राग दरबारी' के सूत्रधार रंगनाथ को इंडोलाजी के शोध छात्र के रूप में प्रस्तुत करते हुए यह टिप्पणी करते हैं : "रंगनाथ का रवैया उन टूरिस्टों का सा हो गया था, जो सड़कें, हवा, इमारतें, पानी, धूप, देश प्रेम, पेड़ पौधे, कमीनापन, शराब, कर्मनिष्ठा, लड़कियाँ और विश्वविद्यालय आदि वस्तुएँ अपने देश में नहीं पहचान पाते और उन्हें विदेशों में जाने पर ही देख पाते हैं।''

यहाँ यदि 'रंगनाथ', 'दूरिस्ट दृष्टि' तथा 'इंडोलाजी' का विखंडन किया जाय तो जिस 'ओरियंटल' दृष्टि की रचना होती है, उससे यह देश 'एन एरिया इन डार्कनेस, यहाँ की सभ्यता 'एन वुंडेड सिविलाइजेशन' और यहाँ का व्यक्ति 'अग्ली इंडियन' ही दिखेगा। नायपाल को इस बात का हमेशा मलाल रहा है कि उनकी निगाह जिस भारतीय यथार्थ पर टिकती है, "उसकी चर्चा भारत में नहीं की जाती, उसके बारे में कभी लिखा नहीं जाता, उसका उल्लेख उपन्यासों, कहानियों, में

NMDC-088

नहीं किया जाता, फ़ीचर, फिल्मों या वृत्त चित्रों में उन्हें कभी नहीं दिखाया जाता''। (एन एरिया आफ डार्कनेस, पृ. 70) श्रीलाल शुक्ल नायपाल के इस मलाल को काफी हद तक दूर करते हैं। यहाँ नायपाल और श्रीलाल शुक्ल के लेखन में निम्न सादृश्य काफी दिलचस्प और अर्थपूर्ण है: "सबके दिमाग पर जो समस्या सबसे ज्यादा हावी है, वह टट्टी है। उसके अनेक नाम है। दिसा, मैदान, जंगल झाड़ी, टट्टी। यानी जहाँ भी ओट मिल जाय उसी के पीछे मल विसर्जन कर दो।'' (पहला पड़ाव, पृ. 108)

वी.एस. नायपाल अपनी पुस्तक 'एन एरिया इन डार्कनेस' में इसी दृश्य को यूं प्रस्तुत करते हैं: "भारतीय हर कहीं मल विसर्जन करते हैं। अधिकतर वे रेल लाइनों के किनारे मल विसर्जन करते हैं। लेकिन वे इसे समुद्र तटों, पहाड़ियों, नदी किनारे और सड़कों पर भी करते हैं और कभी आड़ नहीं तलाशते।'' (पृ. 70) दोनों ही मल विसर्जन का रिश्ता कविता से जोड़ते हैं। नायपाल इसे उत्तर प्रदेश के एक उर्दू शायर के हवाले में यूं प्रस्तुत करते हैं : "हिन्दुस्तानी शायराना तबियत के लोग होते हैं, वे हमेशा खुला आसमान पसंद करते हैं क्योंकि वे प्रकृति प्रेमी होते हैं..... और अलस्सुबह नदी के किनारे खुले में उकडूं बैठने से ज्यादा शायराना चीज और क्या होगी।'' (एन एरिया इन डार्कनेस, पृ. 70) श्रीलाल शुक्ल इसे कुछ यूं अभिव्यक्त करते है: "..... वह वीरान इलाका शुरू हो गया था जहाँ आदमी कविता, रहजनी और पाखाना तक कर सकता था। परिणामस्वरूप कई बच्चे कविता और राहजनी के मामले में असमर्थ, सड़क के दोनों किनारों पर बैठे हुए पाखाना कर रहे थे और एक दूसरे पर ढेले फेंक रहे थे।'' (राग दरबारी,)

भारतीय गाँव और कस्बे को देखने का नजरिया भी नायपाल और श्रीलाल शुक्ल का लगभग एक सा ही है। 'राग दरबारी' में शिवपालगंज बाजार का वर्णन इस प्रकार है: "दूकान पर जलेबी, पेड़े और गट्टे रखे थे। उन्हीं की बगल में शीशे के छोटे-छोटे कंटेनरों में कुछ रूखे-सूखे लकड़ी के टुकड़े से पड़े थे जो बिस्कुट, केक और मस्क इत्यादि की परम्परा में बने हुए स्थानीय पदार्थ थे। जैसे शहर में, वैसे यहाँ पर भी, ये पदार्थ बता रहे थे कि पूरब पूरब है और पश्चिम पश्चिम है और दोनों मिठाइयों की मार्फत शिवपालगंज में मिलते हैं।'' इसी संदर्भ में नायपाल की टिप्पणी इस प्रकार है: "मिठाई की दुकानों पर शीशों के बंद केस रखने का नियम है, इसलिए शीशे के केस हैं भी, लेकिन वे खाली रहते हैं और बगल में मिठाइयों के ढेर खुले पड़े रहते हैं।'' (एन.ए.आ.डार्क, पृ. 79)

NMDC-088

श्रीलाल शुक्ल और वी.एस. नायपाल की समान टिप्पणियों के विपुल उदाहरण इन दोनों के लेखन में भरे पड़े हैं। दरअसल विचारणीय है श्रीलाल शुक्ल की वह दृष्टि जो पूरब पश्चिम, गोरे काले, भद्र व भदेस का विमर्श करती हुई भारतीय यथार्थ पर यह वक्रोक्ति करती है: "रुडयार्ड किपलिंग का धड़ ऊपर और सिर नीचे लटका कर पूर्व और पश्चिम की संस्कृतियाँ विराट रूप में मिल रही थीं।'' (राग दरबारी) यथार्थ को देखने की यह दृष्टि भारतीय समाज में गंदगी, भ्रष्टाचार, अज्ञानता, निरक्षरता, गरीबी, धर्म, गंवई रंग ढंग सभी कुछ को असभ्यता, पिछड़ेपन और पूरब के विमर्श में ढाल कर सभ्यता और आधुनिकता के आवरण में आभिजात्य व पश्चिमी मूल्यों का उदात्तीकरण करती है। भारत जैसे पारम्परिक एवं कृषक समाज को देखने की यह सीमित और अपर्याप्त दृष्टि है। इसी ग्राम दृष्टि का परिणाम है कि मेले में जाती लोकगीत गाती स्त्रियों के बारे में उपन्यासकार की टिप्पणी यूं है: "वे सब मेले में जा रही थीं। भारतीय नारीत्व इस समय फनफना कर अपने खोल के बाहर आ गया था। वे बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही थीं, मुंह पर न घूंघट था, न लगाम थी। फेफड़े, गले और जबान को चीरती हुई आवाज में वे चीख रही थीं और एक ऐसी चिचियाहट निकाल रही थीं जिसे शहराती विद्वान और रेडियो विभाग के नौकर 'ग्राम गीत' कहते हैं।''

राग दरबारी को ग्राम्य उपन्यास के रूप में विश्लेषित करने की सबसे बड़ी दुविधा ग्राम्य जीवन के प्रति यह उपहास दृष्टि ही है। यह दुविधा तब और बढ़ जाती है जब 'भारतीय ग्राम' जैसी महत्वपूर्ण पुस्तक के लेखक प्रख्यात समाजशास्त्री डा. श्यामाचरण दुबे 'राग दरबारी' का उल्लेख करते हुए यह कहते हों "विराट समाजशास्त्रीय कल्पना वाले बीस विद्वान ग्रामीण यथार्थ के बारे में जो नहीं कह सकते, वह इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल ने कह दिया है।'' डा. श्यामचरण दुबे के इस कथन के बावजूद 'राग दरबारी' स्वीकृत अर्थो में ग्राम केन्द्रित उपन्यास नहीं हैं। 'राग दरबारी' का कस्बाई वातावरण गाँव व नगर का अंतर मिटाते हुए, उन कुप्रवृत्तियों को रेखांकित करता है, जो भारतीय जनतंत्र व विकास के माडल को खोखला बना रही हैं। यहाँ 'राग दरबारी' में प्रकाशित यह लेखकीय घोषणा दृष्टव्य है कि "राग दरबारी का सम्बन्ध एक बड़े नगर से कुछ दूर बसे गाँव की जिन्दगी से है जो आजादी के बाद की प्रगति और विकास के नारों के बावजूद निहित स्वार्थों और अनेक अवांछनीय तत्वों के आघातों के सामने घिसट रही है। यह उसी जिन्दगी का दस्तावेज है।'' इस लेखकीय घोषणा के बावजूद सच यह है कि 'राग

NMDC-088

दरबारी' गाँव की जिन्दगी का उतना बड़ा दस्तावेज नहीं है जितना उन 'निहित स्वार्थों एवं अवांछनीय तत्वों' का जो शहर और गाँव का फर्क मिटाते हुए हर कहीं मौजूद हैं। इसे राग दरबारी के ही इस उद्धरण से बेहतर समझा जा सकता है: "रंगनाथ को शिवपालगंज के बारे में ऐसा लगने लगा कि महाभारत की तरह, जो कहीं नहीं है वह यहाँ है और जो यहाँ नहीं है, वह कहीं नहीं है।"

श्रीलाल शुक्ल 'राग दरबारी' में एक ऐसे खल-समाज की रचना करते हैं जहाँ स्वतंत्रता, जनतंत्र, न्यायपालिका, विकास, पंचायत राज, सहकारिता तथा अन्य जनतांत्रिक संस्थाएँ 'निहित स्वार्थों एवं अवांछनीय तत्वों' के हाथ की कठपुतली भर बन कर रह जाती हैं। भारत जैसे अर्ध सामंती और विकासशील देश में जनतंत्र को कैसे निहित स्वार्थों के लूटतंत्र में बदला जा सकता है, शिवपालगंज इस की छोटी-मोटी प्रयोगशाला है। अपनी सम्पूर्णता में यह उपन्यास नेहरू युग की 'माइक्रो आलोचना' है। स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'वैद्यजी' सरीखे परजीवी वर्ग द्वारा जनतांत्रिक संस्थाएँ एवं विकास योजनाएँ किस प्रकार व्यक्तिगत हित साधन हेतु अपहृत कर ली गयीं , राग दरबारी इसकी मनारंजक औपन्यासिक पैरोडी है। शिवपालगंज एक ऐसा 'प्रिज्म' है, जहाँ से आधुनिक जनतंत्र का विकृत यथार्थ सैकड़ों किरणों के माध्यम से अपने विरूपित व कुरूपित रूप में कभी दीखता है तो कभी विलुप्त हो जाता है। 'राग दरबारी' के केन्द्र में वैद्य जी की बैठक, छंगामल कालेज, कोआपरेटिव सोसाइटी एवं ग्राम पंचायत सरीखी संस्थाएँ हैं, जिन पर स्वातंत्र्योतर भारतीय समाज के विकास की अवधारणाएँ टिकी हैं। इन संस्थाओं की विकृतियों को चिह्नित करते हुए उपन्यासकार 'विलायती तालीम में पाये हुए जनतंत्र' को कटघरे में खड़ा करता है।

'राग दरबारी' में रचित शिवपालगंज के खल-सामाज का नायकत्व वैद्य जी, उनके कुनबे और उनके संगी साथियों का है जो परजीवी बिचौलिया संस्कृति के प्रतिनिधि हैं, जो हर युग में रहे हैं। उपन्यासकार के ही शब्दों में, "वैद्य जी थे, हैं और रहेंगे। अंग्रेजों के जमाने में वे अंग्रेजों के लिए श्रद्धा दिखाते थे। देशी हुकूमत में वे देशी हाकिमों के लिए श्रद्धा दिखाने लगे। वे देश के पुराने सेवक थे। पिछले महायुद्ध के दिनों में, जब देश को जापान से खतरा पैदा हो गया था, उन्होंने सुदूर पर्व में लड़ने के लिए बहुत से सिपाही भरती कराये, अब जरूरत पड़ने पर रातों रात वे अपने राजनीतिक गुट में सैकड़ों सदस्य भरती करा देते थे। पहले भी वे जनता की सेवा जज की इजलास में जूरी और असेसर बन कर

NMDC-088

दीवानी के मुकदमों में जायदादों के सिर्पुदकार हो कर और गाँव के जमींदारों मे लम्बरदार के रूप में करते थे। अब वे कोआपरेटिव यूनियन के मैनेजिंग डाइरेक्टर और कालेज के मैनेजर थे।'' यह मात्र संयोग नही है कि श्रीलाल शुक्ल वैद्य जी के जिस कुनबे के माध्मय से इस परजीवी बिचौलिया वर्ग को उपस्थित करते हैं वह भारतीय सामंती वर्णाश्रमी व्यवस्था का उच्च पदस्थ कुलीन सवर्ण समुदाय है। यह परजीवी कुलीन सवर्ण समुदाय प्रकृति से कितना चालाक व धूर्त है, इसका वर्णन उपन्यास में निम्नवत है: "उनका पूरा कर्मयोग सरकारी स्कीमों की फिलासफी पर टिका था। मुर्गी पालन के लिए ग्रांट मिलने पर नियम बना तो उन्होंने मुर्गियाँ पालने का ऐलान कर दिया। एक दिन उन्होंने कहा कि जाति पाँति बिल्कुल बेकार की चीज है और हम बाभन और चमार एक हैं। यह उन्होंने इसीलिए कहा कि चमड़ा उद्योग की ग्रांट मिलने वाली थी। चमार देखते ही रह गये और उन्होंने चमड़ा कमाने की ग्रांट ले कर अपने चमड़े को ज्यादा चिकना बनाने में खर्च भी कर डाली ..... उनका ज्ञान विशद था। ग्रांट या कर्ज देने वाली किसी नयी स्कीम के बारे में योजना आयोग के सोचने भर की देर थी, वे उसके बारे में सब कुछ जान जाते।''

प्रजातंत्र का मखौल उड़ाते 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' के सिद्धांत का अनुपालन करते इस परजीवी वर्ग में सामंती अकड़ है तो वर्णाश्रमी व्यवस्था की ब्राह्मणवादी अंतर्धारा भी, स्वार्थी गिरगिटी प्रवृत्ति है तो रीढ़हीन केंचुआपन भी। वैद्यजी की बैठक इन सभी तरह की प्रवृत्तियों की जन्मस्थली और शरणस्थली है। वंशवाद, कुनबापरस्ती, जाति प्रेम, राजनीति का अपराधीकरण और अपराध का राजनीतिकरण आदि वे सभी विकृतियाँ जो आज भारतीय जनतंत्र के लिए एक बड़ी चुनौती बन गयी हैं, 'राग दरबारी' में उनकी पहचान की गयी है। वर्तमान राजनीतिक माफिया जिस उर्वर भूमि की उपज है, शिवपालगंज उसका एक लघु प्रतिरूप है। उपन्यास के रुप्पन के अनुसार "सारे मुल्क में यह शिवपालगंज ही फैला हुआ है।" और "असली शिवपालगंज वैद्यजी की बैठक में था।'' .... बकौल उपन्यासकार "बैठक का मतलब ईंट और गारे की बनी हुई इमारत भर नहीं है। न. 10 डाउनिंग स्ट्रीट , व्हाइट हाउस, क्रेमलिन आदि मकानों के नहीं, ताकतों के नाम हैं।'' 'राग दरबारी' इसी ताकत का विमर्श है जो चोरी, लूट, डकैती, भ्रष्टाचार, न्यायपालिका और कार्यपालिका के मनमाने दुरुपयोग पर टिकी है। 'राग दरबारी' के वैद्यजी, उनका कुनबा और उनके संगी साथी लूट तंत्र की इसी ताकत के

NMDC-088

प्रतिनिधि हैं। राजनीति की नकेल आज जिस अर्ध शिक्षित, अराजक, स्वार्थी तत्वों के हाथों में है: "रुप्पन बाबू सरीखे 'एंग्री युवक' उसकी शैशवावस्था के प्रतिनिधि हैं।''

श्रीलाल शुक्ल के अन्य उपन्यासों में भी लूट तंत्र की इसी ताकत का विमर्श अंतर्सूत्र के रूप में उपस्थित है। 'सूनी घाटी का सूरज' का नन्हू सिंह 'घर पर रह कर किसानी का काम करता है। चुरा कर शराब बनाता है। छिपा कर चोरी की बंदूकें और पिस्तौल रखता है। डकैतों से और प्रतिष्ठित आदमियों के साथ-साथ मेल बढ़ाता है। गांव का मुखिया है। उसके दरवाजे सात जोड़ी बैल जुगाली करते हैं। हजार रुपये का घोड़ा भी बंधा है। ज्वार में उसकी इज्जत है। सत्तर जानवर पले हैं जो दूसरों की फसल खा कर जीते हैं। बीसों नौकर हैं। वे राहजनी और चोरी के सहारे पलते हैं।'' 'पहला पड़ाव' उपन्यास में लूट तंत्र की यह ताकत शहरी परिप्रेक्ष्य लिए हुए हैं। इसके केन्द्र में है वकील, डाक्टर, इंजीनियर और ठेकेदार का वह परजीवी वर्ग जो 'कृष्ण को बलराम बनाने यानी काले पैसे को सफेद करने' में हुनरमंद हैं।

शहरी परजीवी वर्ग के ये 'ताकतवर' प्रतिनिधि 'राग दरबारी' के वैद्यजी की ही तरह राजनीतिक सत्ता के भी मुखापेक्षी एवं कृपाकांक्षी हैं। "पहला पड़ाव' के वकील परमात्मा जी 'इंदिरा जी के नूरेचश्म के अपने चुनाव क्षेत्र जाने' के दौरान सड़क पर फाटक बनवाते हैं तो इंजीनियर साहब विश्व हिन्दू परिषद और इंका दोनों को चंदा दे कर साधते हैं। 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' दोनों ही उपन्यासों में लूट तंत्र के खलनायकों के चित्रण में श्रीलाल शुक्ल की जो दक्षता दीखती है, यह तंत्र के पीड़ितों के वर्णन में नहीं है। दरअसल आभिजात्य के जिस धरातल पर खड़े हो कर वे नकार की कामिक शैली अपनाते हैं उसमें खल पात्रों की ही उत्कृष्ट रचना हो सकती है। यही कारण है कि ग्राम्य पृष्ठभूमि के बावजूद 'राग दरबारी' में होरी, धनिया, गोबर, दुखी चमार, घीसू, माधव, शंकर, हल्कू सरीखे दुखी व उत्पीड़ित पात्र नहीं हैं। 'राग दरबारी' का किसान पं. कालिका प्रसाद सरीखा है जिसका पेशा "सरकारी ग्रांट और कर्जे खाना था। वे सरकारी पैसे के द्वारा सरकारी पैसे के लिए जीते थे।'' स्वयं उपन्यासकार के शब्दों में 'कालिका प्रसाद प्रेमचंद के उन कथा नायकों में न थे जो लगान वसूलने वाले अमीन को देखते ही घर के भीतर घुस जाते थे और बीवी से घबराहट में कहने लगते थे, 'दरवाजे पर सहना खड़ा है।' वे उनमें थे कि हजार रुपये की कुर्की लिए अमीन चबूतरे

NMDC-088

के नीचे खड़ा हुआ खुशामद कर रहा है और वे चबूतरे के ऊपर बैठे हुए निश्चिन्त भाव से कह रहे हैं, "आपको कार्रवाई रोकने में दिक्कत हो तो कहिए ऊपर से लिखा लाऊँ।''

यहाँ यह समझने की भूल न करनी चाहिए कि गोदान के होरी व 'पूस की रात' के हल्कू का स्वातंत्र्योत्तर भारत में 'राग दरबारी' के 'कालिका प्रसाद' के रूप में कायांतरण हो गया है। सच तो यह है कि प्रेमचंद के होरी व हल्कू की संतानें आज भी विपन्नता की मार व दमन शोषण के दुष्चक्र से मुक्त नहीं हैं। अंतर इतना है कि प्रेमंचद के रचना संसार में होरी व हल्कू साथ-साथ 'राग दरबारी' के कालिका प्रसाद के पूर्वज पंडित दातादीन सरीखे लोग भी थे, 'जिन्होंने लगान की एक पाई न दी थी, कुर्की आती तो कुएं में गिरने चलते मगर असामियों को सूद पर रुपये उधार देते।'' (गोदान पृ. 105) 'गोदान' के पंडित दातादीन के साथ यदि इसी उपन्यास के लाला पटेश्वरी को मिला दिया जाय तो 'राग दरबारी' के वैद्य जी का चित्र मुकम्मल हो जाता है। इसी तरह यदि 'राग दरबारी' के वैद्य जी और गयादीन बनिया के चरित्र को मिला दिया जाय तो 'गोदान' के लाला पटेश्वरी का चित्र उभर आता है, जो "गाँव में पुण्यात्मा मशहूर थे। पूर्णमासी को नित्य कथा सुनते, पटवारी होने के नाते खेत; बेगार में जुतवाते थे, सिंचाई बेगार में करवाते थे। सारा गाँव उनसे काँफ्ता था। गरीबों को दस-दस पाँच-पाँच कर्ज दे कर उन्होंने कई हजार की सम्पत्ति बना ली थी। फसल की चीजें असामियों से ले कर कचहरी और पुलिस के अमलों को भेंट करते रहते थे। इससे इलाके में उनकी अच्छा धाक थी ..... परमार्थी भी थे। बुखार के दिनों में सरकारी कुनैन बाँट कर यश कमाते थे.....'' (गोदान पृ. 106)।

यहाँ प्रेमचंद और श्रीलाल शुक्ल का यह अंतर स्पष्ट है कि प्रेमचंद के रचना संसार में 'राग दरबारी' के वैद्यजी, पं. कालिका प्रसाद, गयादीन और रुप्पन सरीखे परजीवी वर्ग के खल पात्र तो मौजूद हैं, लेकिन श्रीलाल शुक्ल के रचना संसार में होरी, धनिया, मनोहर, बलराज, झिनकू, सूरदास सरीखे संघर्षशील दुखी उत्पीड़ित पात्र लगभग नदारत हैं। इसीलिए 'राग दरबारी' ग्राम्य जीवन की अधूरी तस्वीर है। समूचे 'राग दरबारी' में लंगड़ एक मात्र ऐसा चरित्र है, जो संघर्षशील होने का आभास देता है, उपन्यास में उसके दलित पृष्ठभूमि के होने का संकेत भी है। लंगड़ "भगत आदमी है। कबीर और दादू के भजन गाया करता था। गाते गाते थक गया तो बैठे ठाले एक दीवानी का मुकदमा दायर कर बैठा'' बैठे ठाले दीवानी का

NMDC-088

मुकदमा दायर करने वाला लंगड़ निराला के उस 'चतुरी चमार' से भिन्न है जो 'किसानों पर एक साल के हरी भूसे को तीन साल की बाकी बना कर' जमींदार द्वारा दायर किये गये मुकदमे की मार झेलता है। निराला चतुरी चमार के माध्यम से ग्राम्य समाज में दलित की सम्पूर्ण सामाजिक स्थिति को उद्घाटित करते हैं, जबकि 'राग दरबारी' के लंगड़ का दलित होना महज एक संयोग है। 'मुकदमे की नकल प्राप्त करने का उसका संघर्ष अत्यंत प्रहसनसुना है, क्योंकि इसके मूल में किसी अन्याय या शोषण के प्रतिकार व प्रतिरोध का संकल्प न हो कर 'लंगड़ और नकल बाबू के बीच (घूस के रेट पर) चलने वाला धर्मयुद्ध' है। "नकलनवीस चिड़ीमार निकला, उससे पाँच रुपये माँगे। लंगड़ बोला रेट दो रुपये का है, इसी पर बहस हो गयी..... लंगड़ को भी गुस्सा आ गया। उसने अपनी कंठी छू कर कहा: "जाओ बाबू, तुम कायदे से काम करोगे तो हम भी कायदे से ही काम करेंगे। अब तुमको एक कानी कौड़ी न मिलेगी। हमने दरख्वास्त लगा दी है, कभी न कभी तो नम्बर आयेगा ही।" (पृ.45) यानी चतुरी चमार के मुकदमे की तरह लंगड़ के लिए यह अस्तित्व का संकट न हो कर महज एक सनक है। लंगड़ का 'धर्मयुद्ध' चतुरी चमार के संघर्ष की तरह किसी सामाजिक अंतर्विरोध का उद्घाटन न कर के निम्न स्तर की अदालती संस्कृति व घूसखोरी को उद्घाटित करता है, जिसके लिए लंगड़ के दलित होने की कोई औपन्यासिक जरूरत नहीं है। लेकिन इसके बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि उपन्यास में लंगड़-अदालत प्रसंग व्यवस्था के समक्ष आम आदमी की लाचारी की गहरी अर्थ ध्वनियाँ देता है जो अपने आप में कम महत्वपूर्ण नहीं है।

यहाँ यह प्रश्न भी विचारणीय है कि ग्रामीण पृष्ठभूमि के उपन्यास होने के बावजूद 'राग दरबारी' और 'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यासों में दलित व किसान जातियों की केन्द्रीय भूमिका क्यों नहीं है? सम्भवत: इसके मूल में यह विडम्बना ही अंतर्निहित है कि श्रीलाल शुक्ल नेहरू युग का आलोचनात्मक भाष्य नेहरूवादी धरातल से ही करते हैं। लोहिया का 'सिनिकल' नकारवादी मुहावरा अपनाने के बावजूद नेहरूवादी धारणाएँ उनका पीछा नहीं छोड़तीं। लोहिया 'हल की मूठ बनाम जनेऊ' के विमर्श के माध्यम से भारतीय समाज में जाति व्यवस्था की जकड़न को रेखांकित करते थे, जबकि नेहरू के दर्शन में इस विमर्श का कोई स्थान नहीं था। लेकिन यह श्रीलाल शुक्ल की सीमा न हो कर स्वातंत्र्योत्तर भारत के उस आदर्शवादी वैज्ञानिक चिन्तन का परिणाम है, जो युग दर्शन का ही रूप ले चुका था।

NMDC-088

'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल नेहरूवादी अवधारणा को अपनाते हुए वर्ण भेद की अनदेखी करते हैं और दलित व पिछड़ों की त्रासद नियति को ठाकुर परिवार में जन्मे रामदास सिंह की दुर्दिन गाथा से प्रतिस्थापित करते हैं, जिसमें हलवाही, गुलामी, गोबर उठाना, बैल चराना, चारा काटना, पानी खींचना व मालिश करने से ले कर बेगारी की मार झेलते-झेलते कोल्हू में ईख लगाते समय बाप द्वारा अपने दोनों हाथ गँवा देना तक शामिल है। यह अजब विडम्बना है कि जहाँ 'राग दरबारी' ग्राम पृष्ठभूमि के बावजूद 'गाँव की जिन्दगी' की कहानी नहीं बन पाता, वहीं 'सूनी घाटी का सूरज' गाँव की जिन्दगी के भरपूर चित्रण के बावजूद ग्रामीण जीवन का प्रतिनिधि यथार्थ नहीं बन पाता, क्योंकि ठाकुर रामदास के रमदस्सा बनने की कहानी नागार्जुन के 'बलचनमा' में बालचंद्र से बलचनमा बनने की कहानी की तरह विश्वसनीय ग्राम्य यथार्थ नहीं है। 'बलचनमा' की नियति और यातना भारतीय ग्राम्य समाज की वर्णाश्रमी सामंती व्यवस्था में जी रहे कमोबेश हर दलित व पिछड़े की यातना कथा है। जबकि ठाकुर बाप-बेटे रामनाथ और रामदास की दुर्दिन कथा एक परिवार की त्रासदी है। यहाँ इतिहासकार कपिल कुमार के अवध केन्द्रित अध्ययन का यह निष्कर्ष प्रासंगिक है कि "समाज में खेतिहर मजदूर गिरे हुए वर्ग के रूप में सिर्फ इसलिए नहीं माने जाते थे कि उनका पेशा उन्हें निचले आर्थिक धरातल पर रखता था, बल्कि जाति संरचना के कारण भी। ग्रामीण सर्वहारा की वृहत्तर संख्या उन 'नीची जातियों' से आती थी जो सदियों से सामंती आभिजात्य द्वारा भूमि एवं खेती के अधिकारों से वंचित किये जाते रहे थे ताकि मजदूरों की आपूर्ति बनी रहे। वे निर्धन और गुलाम ही नहीं थे, बल्कि 'अछूत' भी थे।" (एस्सेज कालोनियल हिस्ट्री–रिकास्टिंग वुमेन, पृ. 339) दरअसल भारतीय ग्राम्य समाज की जटिल संरचना को महज धनी व निर्धन के विमर्श से नहीं समझा जा सकता।

यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि श्रीलाल शुक्ल भारतीय ग्रामीण समाज की वर्णाश्रमी सामंती संरचना से बेखबर नहीं हैं, उनकी रचनाओं में जहाँ तहाँ यह विमर्श हाशिए की टिप्पणियों के रूप में आता रहता है, निम्न उद्धरणों से जिसकी पुष्टि भी होती है:

"टिनेन्सी एक्ट लग गया है। अब कोई बेदखल नहीं हो सकता। अब गंगापुर के पासी चमार तक महराज हो जाएंगे। खराब दिन आये हैं।".....(सूनी घाटी का सूरज,पृ. 63)

NMDC-088

"बेटा जा कर अपनी भैंस दूहो और बैलो की पूंछ ऐंठो। शेली और कीट्स तुम्हारे लिए नहीं है।" (राग दरबारी, पृ. 30)

"लंगड़ दरवाजे पर आ गया। शास्त्रों में शूद्रों के लिए जिस आचरण का विधान है, उसके अनुसार चौखट पर मुर्गी बन कर उसने वैद्यजी को प्रणाम किया। इससे प्रकट हुआ कि हमारे यहाँ आज भी शास्त्र सर्वोपरि है और जाति प्रथा मिटाने की सारी कोशिशें अगर फरेब नहीं हैं तो रोमांटिक कार्रवाइयाँ है। " (वही, पृ. 43)

यहाँ यह स्पष्ट है कि श्रीलाल शुक्ल दलित विमर्श को केन्द्रीयता न प्रदान करते हुए भी प्रभुत्ववादी अवधारणाओं के बीच से ही अपना क्रिटीक तैयार करते हैं। वे वर्णभेद और जातिगत उत्पीड़न का सीधे विमर्श न कर कुलीनवर्गीय जातिगत गौरव को कटघरे में रखते हुए भारतीय समाज में जाति की उपस्थिति को रेखांकित करते हैं: यही कारण है कि 'सूनी घाटी का सूरज' उपन्यास में जो रामदास अपने 'खानदानी' ठाकुर के उत्पीड़न का शिकार हो कर बंधुआ मजदूरी की यातना झेलता है, वही अपनी क्षत्रिय पृष्ठभूमि के कारण क्षत्रियों का कृपापात्र होकर विपन्नता के दुश्चक्र से मुक्त होता है। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में रामदास की टिप्पणी है : "जीवन में पहली बार मैंने जाति प्रथा की जी भर कर प्रशंसा की। यही एक बंधन था जो मुझे ठाकुर अम्बिकेश सिंह के पुत्र पद पर आरूढ़ किये हुए था।" (सूनी घाटी का सूरज, पृ. 104) दरअसल यह उपन्यास पर यथार्थवाद की जीत है, वर्ग भेद लेखक का अभीष्ट है, जबकि जाति गौरव कुलीन समाज का यथार्थ। लेकिन इसके बावजूद रामदास 'किसानों की कर्ज समस्या' पर शोध करता है और अंत में अपने गाँव वापस जाता है, "दलितों की शक्ति बनने' 'अशिक्षितों को विद्या देने' हेतु।

'सूनी घाटी का सूरज' का यह आदर्शवाद नेहरूयुगीन वह स्वप्न गाथा है जो 'राग दरबारी' के बदरंग यथार्थ से टकरा कर ऐसी वास्तविकता से साक्षात कराता है, जहाँ सब 'छुद्र' और 'छिप्र' हो कर 'उत्तर आधुनिक' होने को बेचैन हैं। यहाँ सच्चाई, ईमानदारी, नैतिकता आदि के महावृत्तांत तिरोहित हो जाते हैं और बचा रह जाता है, शिवपालजंग का यह बदरंग यथार्थ जहाँ "आदमी का सम्मान उसकी अच्छाई के कारण नहीं उसकी उपयोगिता के कारण होता है" (पृ. 211) जहाँ यह अनबूझ पहेली है कि "सच्चाई किस चिड़िया का नाम है? और यह बताना मुश्किल है कि क्या सच है, क्या झूठ है? " (पृ. 102) जहाँ नैतिकता कुछ यूँ परिभाषित

NMDC-088

की जाती है: "नैतिकता समझ लो कि यही चौकी है। एक कोने में पड़ी है। सभा सोसाइटी के वक्त इस पर चढ़ कर लेक्चर फटकार दिया जाता है। यह उसी के लिए है।" (पृ. 123) "इंसानियत का प्रयोग शिवपालगंज में उसी तरह चुस्ती और चालाकी का लक्षण माना जाता था, जिस तरह राजनीति में नैतिकता का।" (पृ. 103)

सच, नैतिकता, ईमानदारी, इंसानियत और प्रजातंत्र को धता बताकर लोभ, मोह, उपयोगिता और ताकत लाठीतंत्र की प्रतिष्ठा का यह 'दरबारी राग' भ्रष्ट सत्ता तंत्र का 'माइक्रो स्तर' पर विखंडन है, क्योंकि उपन्यासकार की मान्यता है कि "दिल्ली से लेकर शिवपालगंज तक काम करने वाली देसी बुद्धि सब जगह एक सी है"। 'राग दरबारी' का महत्व और मौलिकता इस भ्रष्ट सत्ता तंत्र की विकृतियों की देशज कथात्मक प्रस्तुति में है। निश्चित रूप से स्वाधीन भारत में नेहरू युग का यह निर्मम निन्दात्मक कथात्मक आख्यान है।'सूनी घाटी का सूरज' का नेहरूवादी मोह 'राग दरबारी' तक आते जाते लोहियावादी अनास्था में तबदील हो जाता है। इस अंतर के साथ कि जहाँ लोहियावादी अनास्था सत्ता तंत्र को लक्ष्य करते हुए लंगड़, सनीचर और ' सिर पर गंदी सी पोटली रखे काली कलूटी औरत' की दुर्दशा और गरीबी के प्रति सहानुभूति रखती थी, वहीं 'राग दरबारी' की अनास्था सत्ता तंत्र की विकृतियों को लक्ष्य करने की प्रक्रिया में अपने इन दुर्दशाग्रस्त पात्रों को भी नहीं बख्शती।

श्रीलाल शुक्ल 'वेदना का फोटोग्राफ नहीं बल्कि वेदना का कार्टून' (राग दरबारी) रचते हैं। इसी रचना दृष्टि के चलते सनीचर का शब्द चित्र निर्मित करते हुए उनकी निगाह यूं टिकती है, "उसका अंडरवियर कुछ महत्वपूर्ण स्थानों पर फट गया था, बदन नंगा था, पर बालों में कड़वा तेल चुचुवा रहा था और चेहरा प्रसन्न था। पता लगना मुश्किल था कि उसका मुंह ज्यादा फटा हुआ है या अंडरवियर।"

दरअसल यहीं उठता है सौंदर्य दृष्टि का प्रश्न और इसीलिए प्रेमचंद ने कहा था: "सुंदरता की कसौटी बदलनी होगी।" यहीं श्रीलाल शुक्ल का प्रेमचंद की परम्परा से पार्थक्य है। उनकी अभिजात्य सौन्दर्य दृष्टि का ही परिणाम है कि 'पहला पड़ाव' की ईंट गारा ढोने वाली जसोदा का नख शिख वर्णन वे इस तरह करते हैं: "मेमसाहब का दिल ही मुलायम नहीं था, उनमें और भी बहुत कुछ था। उनकी

NMDC-088

आँखें बड़ी-बड़ी और बेझिझक थीं, भौहें बिलकुल वैसी जैसी फैशनेबुल लड़कियाँ बड़ी मेहनत से बाल प्लक कर के पेन्सिल की मदद से तैयार करती हैं। रंग गोरा. गाल देखने में चिकने छूने में न जाने और कितने चिकने होंगे, कद औसत से ऊँचा, पीठ तनी हुई और दांत, जो मुझे खासतौर से अच्छे लगते—उजले और सुडौल। उनके बाल कुछ भूरे थे। मेमसाहब की उपाधि उन्हें अपनी बातचीत के हाकिमाना अंदाज से नहीं, गोरे चेहरे और इन लम्बे घने बालों के कारण मिली थी।'' (पहला पड़ाव, पृ. 32) यानी श्रीलाल शुक्ल मजदूरनी में भी आभिजात्य सौन्दर्य प्रतिस्थापित करते हैं। जसोदा भिन्न है निराला की 'तोड़ती पत्थर' की उस मजदूरनी से 'जो मार खा रोयी नहीं', निराला की आंख भी उसके 'श्याम तन, भर बंधा यौवन' को देखती है, लेकिन उनकी 'दृष्टि' देह की मांसलता का अतिक्रमण करते हुए 'नत नयन प्रिय/कर्म रत मन/गुरु हथौड़ा हाथ' पर टिकती है, इसीलिए वे कविता का अंत इस प्रकार करते हैं: 'ढुलक माथे से गिरे सीकर/लीन होते कर्म में, फिर ज्यों कहा—मैं तोड़ती पत्थर।' निराला की अपने कथ्य, परिवेश और चरित्र के प्रति गहरी संलग्नता और सहानुभूति से पूर्ण रचना दृष्टि के विपरीत श्रीलाल शुक्ल की खिलंदड़ी दृष्टि उन प्रभुत्ववादी मूल्यों से निःसृत है जो श्रमिक समुदाय, हाशिए के लोगों व दलित जन के प्रति सहानुभूति के स्थान पर मनोविनोद का भाव रखती है। यह मनोविनोद जब स्त्री केन्द्रित हो तो पुरुषवादी रतिक दृष्टि स्वाभाविक ही है। 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' दोनों ही उपन्यासों में इस रतिक दृष्टि को जहाँ तहाँ देखा जा सकता है।

श्रीलाल शुक्ल की कठिनाई यह है कि वे अपनी आभिजात्य सौन्दर्य दृष्टि, पुरुष रतिकवाद और वर्ग स्थिति का अतिक्रमण नहीं कर पाते। यद्यपि जब तब वे ऐसे प्रयास करते दीखते अवश्य हैं। उपन्यास 'पहला पड़ाव' में अपनी वर्ग स्थिति के 'लौह जाल तोड़ने की' उनकी बैचेनी दीखती है, लेकिन वे लौट-लौट कर फिर अपनी उसी जमीन पर खड़े दीखते हैं। अपने वर्गीय लौह जाल को तोड़ने की प्रक्रिया में वे असंगठित मजदूरों व बेरोजगार युवा पीढ़ी को 'पहला पड़ाव' का कथ्य तो बनाते हैं, लेकिन दृष्टि के बंधन के कारण इसी वर्ग के कटघरे में भी खड़ा करते हैं। 'राग दरबारी' में जिस दृष्टि के चलते वे यह कहते हैं कि, ''यह वही तेली है, जो शहर में खरीदे हुए मशीन के तेल को कोल्हू में पेरा हुआ शुद्ध सरसों का तेल कह कर देहात में बेचता है।'' (पृ. 405) उसी दृष्टि की पुनर्प्रस्तुति करते हुए समाज के असंगठित पेशा वर्गों के प्रति वे 'पहला पड़ाव' में निम्न टिप्पणियाँ

NMDC-088

करते है : "अब मानसिंह, मलखान सिंह जैसे डकैत रायफल ले कर नहीं घूमते, इन नयी कालोनियों में बढ़ई, प्लम्बर, इलेक्ट्रिीशियन् के रूप में औजारों का झोला ले कर चलते हैं।'' "सीधे सीधे आदमी को नौ साल का छोकरा तक बकरा बना कर खम्भे में बाँध सकता है। दस पैसे की धनिया तक खरीदो तो कोई तुम्हारे हाथ में सड़ी पत्तियों का गुच्छा पकड़ा कर चलता बनेगा। कुछ बोलो तो गाली गलौज छूरेबाजी तक की नौबत।''

उपन्यास के नायक सत्ते की उपरोक्त टिप्पणियाँ उपन्यासकार की वर्ग सीमा का ही उद्‌घाटन करती हैं जिसके चलते वह मध्यवर्गीय सोच को निम्नवर्गीय सोच में तब्दील करता है। वर्ग दृष्टि की इन सीमाओं के बावजूद यह तथ्य स्वीकार किया जाना चाहिए कि 'पहला पड़ाव' अपेक्षाकृत रूप से वैचारिक सम्पन्नता का उपन्यास है। श्रीलाल शुक्ल की यह वैचारिक विकास यात्रा भी है लेकिन इसकी सबसे बड़ी सीमा इसका 'राग दरबारी' की छाया से मुक्त न हो पाना है। वह छायाग्रस्तता भाषा शैली और पात्रों के चित्रण तक कुछ इस तरह से विस्तृत है कि कई बार ये 'राग दरबारी' के प्रसंगों को ज्यों का त्यों दुहराते दीखते हैं। 'राग दरबारी' में सरफरी बोली 'किर्फिस सर्फाले ने यर्फहां कर्फाटें गर्फाड़े हैं' (पृ. 283) का रूपांतरण 'पहला पड़ाव' की 'पस्पेक ता बीन मा ने बस्सा, ओदेत ना के पुसीत' (पृ. 35) में होता है। 'राग दरबारी' में नकल बाबू और लंगड़ के बीच घूस के रेट को ले कर छिड़ा 'धर्मयुद्ध', 'पहला पड़ाव' में 'एक घूसखोर क्लर्क और टिकिया चोर वकील' के बीच घूस वापसी से शुरू हो कर बाबुओं और वकीलों की हड़ताल में बदल जाता है। (पृ 67)

भ्रष्टाचार की यह अंतर्धारा 'पहला पड़ाव' में 'राग दरबारी' की ही तर्ज पर कथावस्तु में उपस्थिति है। यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि नवप्राच्यवादी विमर्श में भारत की जो तस्वीर विश्व के पैमाने पर प्रस्तुत की जाती है, भ्रष्टाचार उसका प्रमुख तत्व है। 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' में सरकारी दफ्तरों से ले कर नागरिक समाज तक जिस तरह घूस की व्याप्ति को दर्शाया गया है, वह सामजिक विकार के रूप में कम सामाजिक चलन के रूप में अधिक प्रस्तुत होता है। यह सामाजिक चलन घूस का सिद्धांतीकरण भी करता है जैसे, "जहाँ घूस चलती है, वहाँ सिफारिश नहीं चलेगी'' (पहला पड़ाव), "दीर्घगामी रिश्ते भलमनसाहत और एहतास के तो रहे नहीं, घूस या लेन देन के भले हों'' (वही पृ. 154), 'घूस लेना

NMDC-088

भी अब बड़ी जलालत का काम है। इसमें कुछ बचा नहीं है। लेने वाले और न लेने वाले अब समझ लो, बराबर ही हैं। सबकी हालत खराब है।' (राग दरबारी) यानी रिश्ते नाते, आशा आकांक्षा, कुंठा निराशा सभी कुछ केन्द्रित है घूस के मुद्दे पर। सारी व्यंग्यात्मकता और शैली की वक्रता के बावजूद 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' की ये निष्पत्तियाँ भारतीय समाज में घूस की वर्ण और वर्ग से मुक्त सर्व स्वीकृति को रेखांकित ही करती हैं। यह करते हुए वह उस वृहत्तर नागरिक समाज (सिविल सोसायटी) की अनदेखी करती हैं, जहाँ घूस और भ्रष्टाचार के प्रति अभी भी सम्मान व स्वीकृति का भाव नही है। 'सिविल सोसायटी' के इस प्रतिपक्ष की अनुपस्थिति व भ्रष्टतंत्र में व्यक्ति व व्यवस्था का सहमेल भारतीय समाज में सब कुछ समाप्त हो जाने जैसा निराशाजनक भाव पैदा करता है। यद्यपि 'राग दरबारी' के लंगड़ और 'पहला पड़ाव' के सत्ते सीमित संदर्भो के प्रतिरोध का प्रतीक अवश्य बनते हैं।

सत्ते 'लौहजाल तोड़ने' के अपने संकल्प के प्रति संशयालु भी होता है, लेकिन यहाँ उपन्यासकार अपनी वर्गीय दृष्टि के लौहजाल को तोड़ते हुए उसे संशय मुक्त कर समाज की बेहतरी की लड़ाई के लिए संकल्पबद्ध करता है। 'पहला पड़ाव' का अंत श्रीलाल शुक्ल के नकारवादी मुहावरे का अंत होने के साथ-साथ नया वैचारिक प्रस्थान बिन्दु भी है, 'बिस्रामपुर का संत' जिसका अगला पड़ाव है।

कई दृष्टियों से 'बिस्रामपुर का संत' श्रीलाल शुक्ल द्वारा अपनी ही रचनात्मक रूढ़ियों से मुक्ति का उत्कृष्टतम उदाहरण है। इस उपन्यास का सतर्क पाठ करते हुए जो बात चौंकाने व सर्वाधिक आकृष्ट करने वाली है वह उपन्यासकार का अपनी पूर्व औपन्यासिक परम्परा से मुक्त होना है। यहाँ यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि श्रीलाल शुक्ल की औपन्यासिक परम्परा के निर्धारण में 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' की केन्द्रीय भूमिका है। इन उपन्यासों में ताकत का जो विमर्श भ्रष्टाचार और तंत्र की अन्य विकृतियों तक सीमित है, 'बिस्रामपुर का संत' में वह सत्ता विमर्श तक पहुँचता है। कुंवर जयंती प्रसाद सिंह इस सत्ता विमर्श में यदि अंतर्सूत्र में रूप में विद्यमान हैं तो भूदान आंदोलन इसकी पृष्ठभूमि के रूप में उपस्थित है। विषयवस्तु की इस नवीनता के साथ एक और अंतर यह भी है कि जहाँ 'राग दरबारी' 'पहला पड़ाव' और 'सूनी घाटी का सूरज' व्यक्ति, तंत्र और समाज के बहिरंग तक सीमित है। वहीं 'बिस्रामपुर का संत' इसके अंतरंग का भी भेदन करता है।

NMDC-088

'बिस्रामपुर का संत' का उनके पूर्व उपन्यासों से एक पार्थक्य बिन्दु यह भी है कि यह बदले कथा मुहावरे व समन्वित औपन्यासिक दृष्टि का उपन्यास है। सर्वाधिक महत्वपूर्ण तथ्य तो यह है कि उनके पूर्व के उपन्यासों में जो विसंगतियाँ रचनात्मक कमजोरी के रूप में रेखांकित हो कर चर्चित होती रही हैं; इस उपन्यास में श्रीलाल शुक्ल उनमें से अधिकांश से मुक्त हो कर उन्हें अपनी रचनात्मक शक्ति के रूप मे इस्तेमाल करते हैं। उन्मुक्त व्यंग्य और आभिजात्य सौन्दर्य दृष्टि का परित्याग इस उपन्यास की सबसे बड़ी शक्ति है। 'राग दरबारी' की तरह न यहाँ व्यंग्य का उन्मुक्त ठहाका है और न 'वेदना का कार्टून'। व्यंग्य यहाँ अतिकथन में न हो कर इस तरह के मित-कथनों में है: 'उस मौसम में इस गांव ने लगभग आधा दर्जन रिक्शाचालकों का निर्यात किया' (पृ. 125) '..... अब यह आश्रम राजभवन में तब्दील होने जा रहा है।' (पृ. 91) यहाँ व्यंग्य सिर्फ भाषा तक सीमित न हो कर स्थितियों एवं व्यक्तियों के अंतर्विरोधों तक विस्तृत है। उपन्यास में सामजिक परिप्रेक्ष्य की सकारात्मकता भी है।

'राग दरबारी' की तर्ज पर यहाँ वेदना की अभिव्यक्ति 'कार्टून' के रूप में न हो कर काव्यात्मक संवेदना ही ऊंचाइयों को छूती है: "..... आज तीस वर्षों बाद जब उनकी गोद में फटी बिवाई वाले किसानों की जिन्दगी पर सुंदरी की किताब खुली पड़ी है, सुंदरी की एड़ियों की त्वचा की तरह उनका मन भी दरक रहा है, दर्द की आड़ी तिरछी रेखाएं एक दूसरे को काट रही हैं'' (पृ. 136) श्रीलाल शुक्ल का यह संवेदनात्मक परिकार 'राग दरबारी' की रचना भूमि से एक लम्बी छलांग है। यह उनकी सौन्दर्य दृष्टि में गुणात्मक बदलाव का भी सूचक है। यह सुखद विरोधाभास है कि 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' में वे जिस आभिजात्य सौन्दर्य दृष्टि को अपनाते हैं, 'बिस्रामपुर का संत' में उसी को लक्ष्य करते हुए वे कहते हैं: ''बहुतों के मन में सामाजिक विषमता और लाचार व्यवस्था के खिलाफ आक्रोश नहीं पैदा होता, उन्हें देखते ही सबसे पहले हमारे सौन्दर्य बोध को चोट लगती है।'' (पृ. 113) यह अनायास नहीं है कि बिस्रामपुर के 'संत' कुंवर जयंती प्रसाद को 'फूहड़पन के किसी भी प्रदर्शन से उनकी सुरुचि को पहले जैसा आघात न पहुंचता था।' (पृ 153) उपन्यास में कुवर जयंती प्रसाद सिंह का ''सौन्दर्य विषयक' समस्याओं से एक झटके से मुक्ति पाना भले ही उतना सहज व स्वाभाविक न बन पड़ा हो, लेकिन वह उपन्यासकार की दृष्टि में आये सकारात्मक परिवर्तन को अवश्य इंगित करता है।

NMDC-088

उपन्यासकार की सौन्दर्य दृष्टि का यह बदलाव सामाजिक व आर्थिक विषय वस्तु तक ही केन्द्रित नहीं है यह सौन्दर्य दृष्टि का सम्पूर्ण बदलाव है, नारी विषयक प्रसंगों में अब उपन्यासकार की निगाह 'सलूके के खुले बटनों' पर न टिक पर पैर में फटी बिवाइयों' को देखती है। यह 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' की सौन्दर्य दृष्टि का लेखकीय प्रत्याख्यान है। 'पहला पड़ाव' की मजदूरनी जसोदा की मेमसाहबी छवि की तुलना भद्र सुसंस्कृत भूदान कार्यकत्री सुंदरी की इस श्रमिक छवि से करने पर यह बदलाव लक्षित किया जा सकता है:

"सुंदरी के चेहरे से उसके पावों के सुनहरेपन और सुकुमारता का जो ख्वाब बनता था, महीनों से चला आने वाला धूल और मिट्टी का संसर्ग उसे निर्दयता से चकनाचूर कर रहा था। एड़ियाँ काली पड़ गयी थीं, उनमें झलकती हुई लकीरें बिवाइयों की शुरुआत का पता दे रही थीं। ये पाँव दिन भर खेतों में खटनेवाली किसी अधेड़ मजदूरनी के थे"। (पृ. 26) निराला का 'तोड़ती पत्थर' और प्रेमचंद का 'उलझे हुए बालों, पपड़ियाँ पड़े होठों और कुम्हलाए हुए गालों' का सौन्दर्य बिम्ब यहाँ पूर्णता प्राप्त कर रहा है। सुंदरता की बदली हुई कसौटी यही है।

कथा दृष्टि सम्बंधी उपरोक्त परिवर्तन जहाँ श्रीलाल शुक्ल को उनकी अपनी ही कथा रूढ़ियों से मुक्त करते हैं, वहीं उनकी कुछ अन्य कथा रूढ़ियाँ सकारात्मक संदर्भों के साथ ' बिस्रामपुर का संत' में नयी अर्थ छवियाँ पैदा करती हैं। 'राग दरबारी', 'पहला पड़ाव' और 'सूनी घाटी का सूरज' की तरह अंग्रेजी मुहावरा यहाँ भी यत्र तत्र उपस्थित है, लेकिन इस अंतर के साथ कि यहाँ 'ओरियंटल' दृष्टि की सुखद अनुपस्थिति है। यह तथ्य भी दिलचस्प है कि जब तब इस अंग्रेजी मुहावरे का इस्तेमाल लेखक ने पश्चिम का उपहास करने के लिए किया है। सुंदरी के साथ कुंवर साहब के कामुक प्रसंग का यह वर्णन कुछ ऐसा ही है: "सुंदरी के साथ बत्तीस साल पहले की यह घटना इतनी पुरानी हो गयी थी कि उन्हें जान पड़ने लगा था, वह उनके साथ नहीं किसी दूसरे के साथ घटी है। उसे ले कर अब उनका मन यह मानने के लिए भी तैयार हो गया था कि वह कोई गम्भीर घटना नहीं, स्वभाव के हलकेपन का क्षणिक प्रदर्शन भर था जिसे पश्चिम के सभ्य समाज में हंस कर और 'नो हार्ड फीलिंग्स' कह कर भुलाया जा सकता था।" (पृ. 157) एक अन्य प्रंसग कुछ यूं है: ".....तब योग की जगह 'योगा' शब्द की ईजाद नहीं हुई थी, इसलिए इन क्रियाओं के साथ ध्यान, मनन और चिन्तन के भी कुछ तत्व जुड़े थे"। (पृ. 114)

NMDC-088

उपन्यास में जहाँ तहाँ अंग्रेजी मुहावरे का प्रयोग अंग्रेजी मुहावरे के ही रूप में किया गया है। जैसे 'मैं पीछे के सारे पुल तोड़ता आया हूं ....., 'अपनी सारी नावें जला चुका हूं', 'पुटिंग योर बेस्ट फूट फारवर्ड' 'यह चाय का प्याला मेरे लिए नहीं है' (दिस इज नाट माई कप आफ टी) आदि। इन अंग्रेजी मुहावरों का प्रयोग उपन्यास की विषयवस्तु में बेमेल इसलिए नहीं लगता कि या तो ये आभिजात्य पृष्ठभूमि के पात्रों द्वारा बोले गये हैं या लेखकीय वर्णनात्मकता के हिस्से हैं। 'बिस्रामपुर का संत' उपन्यास की सफलता की सबसे बड़ी कुंजी यही है कि यहाँ लेखकीय आभिजात्य पात्रों के आभिजात्य से घुल मिलकर 'आभिजात्यवादी' दृष्टिकोण के प्रति अति सजग है। इस लेखकीय और सजगता का ही परिणाम है कि कुंवर जयंती प्रसाद सिंह का व्यक्तित्वांतरण या बच्चे छबिलाल के प्रसंग (पृ. 145) में अति मानवीयकरण कभी-कभी लेखकीय प्रक्षेपण सरीखा लगने लगता है। लेकिन यदि उपन्यासकार की तर्ज पर अंग्रेजी मुहावरा इस्तेमाल करने की छूट ली जाय तो कहा जा सकता है कि लेखक ने "गल्ती सही पाले में की है।"

'बिस्रामपुर का संत' कथा की एक-रैखिकता के बावजूद कई उप कथाओं की केन्द्रीयता लिए हुए है। इस कथा में कई युग्म हैं, कुंवर जयंती प्रसाद-जयश्री, जयश्री-सुंदरी, सुंदरी-सुशीला। इन सभी युग्मों का कोई न कोई तार कुंवर जयंती प्रसाद सिंह और भूदान आंदोलन से जुड़ा है। और भूदान व कुंवर साहब के बीच जो एक समानधर्मी तत्व है वह है पाखंड। सत्ता, लिप्सा, धन, भूमि, लम्पटता की यह पाखंड कथा बंद सी दीखने के बावजूद खुले अंत की कथा है, क्योंकि उपन्यासकार ने कुंवर जयंती प्रसाद सिंह की लिप्सा गाथा का जो उदात्तीकरण आत्महत्या की प्रायश्चित गाथा के माध्यम से किया है वह प्रायश्चित न हो कर नेमेसिस (प्राकृतिक प्रतिशोध) सरीखा है। 'बिस्रामपुर का संत' के रूप में कुंवर जयंती सिंह का चरित्र अलग-अलग प्रसंगों में टाल्सटाय के 'पुनरुत्थान' (रिसरक्शेन) के नेख्लुदोव एवं 'मैला आँचल' के तहसीलदार हरगौरी सिंह का स्मरण करा जाता है। इन तीनों ही संदर्भों में जिन दो तत्वों की सम्मिलित उपस्थिति है वे हृदय परिवर्तन एवं भूमि सम्बंध हैं। नेख्लुदोव और कुंवर जयंती प्रसाद सिंह में एक सादृश्य और भी है वह है सुंदरी की तरह मास्लोवा द्वारा नेख्लुदोव के विवाह प्रस्ताव का इंकार। अंतर बस इतना है कि जहाँ नेख्लुदोव को बाइबिल के पृष्ठों में प्रायश्चित का संतोष प्राप्त होता है, वहीं कुंवर जयंती प्रसाद सिंह को गीता के पृष्ठों के बीच वह पत्र प्राप्त होता है, जो उनके जीवन का नेमेसिस (प्रतिशोध) सिद्ध होता है।

NMDC-088

यूं तो 'बिस्रामपुर का संत' की प्रायश्चित गाथा के केन्द्र में सुंदरी, विवेक और कुंवर जंयती प्रसाद का त्रिकोण है, लेकिन सत्ता और भूमि सम्बधों का विमर्श जिस गहरी अंतर्दृष्टि के साथ इस उपन्यास में उपस्थित हुआ है, वह इसे अतिरिक्त महत्व प्रदान करता है। उपन्यास के अंतिम प्रसंगों में कुंवर जयंती प्रसाद सिंह के चरित्र में लेखकीय आरोपण एवं किन्चित नाटकीयता के बावजूद महानता की यह पतन-गाथा श्रीलाल शुक्ल की रचनात्मकता का उत्कृष्टतम रूप है। कई अर्थों में यह 'राग दरबारी' और 'पहला पड़ाव' से आगे की औपन्यासिक यात्रा है। 'राग दरबारी' यदि स्वातंत्र्योत्तर भारतीय समाज की भदेस गाथा थी, तो 'बिस्रामपुर का संत' सत्ता के भद्र जनों की पतन गाथा है। छुद्रताओं के महा वृत्तांत से ले कर महानताओं की छुद्रता तक विस्तृत श्रीलाल शुक्ल की यह औपन्यासिक यात्रा जिस अगले पड़ाव तक पहुँचनी है, लगता है उसका सूत्र 'बिस्रामपुर का संत' के इस अंतिम वाक्य में अंतर्निहित है, "ट्रैजडी को ले कर अब मुझसे कभी ऐसी हलकी बात मत करना।''

कहीं यह रेणु के 'तीसरी कसम उर्फ मारे गए गुलफाम' के हीरामन की तरह श्रीलाल शुक्ल के रचनाकार द्वारा व्यक्ति श्रीलाल शुक्ल को दिलायी गयी कसम तो नहीं!!!

NMDC-088

15. असन्तोष का खटराग

नेमिचन्द्र जैन

हम सभी जानते हैं कि एक समय हिन्दी उपन्यास-कहानी में 'आंचलिकता' का बड़ा जोर था। दिलचस्प बात यह है कि आजकल आंचलिक न होने का आग्रह भी उतना ही मुखर है। इधर कई उपन्यासकारों ने अपने उपन्यासों की भूमिका में, अथवा अन्यत्र, यह बात बड़े जोर से कही है कि उनकी रचना को आंचलिक न समझा जाये, भले ही उसका परिवेश किसी गाँव या क्षेत्र-विशेष तक ही सीमित हो। दरअसल, यह तथाकथित 'आंचलिकता' व्यक्ति और उसके परिवेश को उसकी सामान्यता की बजाय विशिष्टता में, उसकी मूर्त्त जीवन्तता में, देखने के प्रयास में उत्पन्न हुई थी, और किसी हद तक हिन्दी के कथाशिल्पी के यथार्थ को अधिक सचाई के साथ पकड़ने के बढ़ते हुए रुझान को सूचित करती थी। पर धीरे-धीरे इस रुझान ने एक रीति या रूढ़ि का रूप ले लिया और वह लेखक के अनुभव, अवलोकन और जीवन-दृष्टि के सीमित होने का सूचक जान पड़ने लगा। अब रचना के विशिष्ट और सीमाबद्ध यथार्थ को किसी वृहत्तर परिप्रेक्ष्य से जोड़ने और उसे व्यापक सार्थकता देने की आवश्यकता महसूस हुई। इसके लिए कई प्रकार की ऐसी साहित्यिक युक्तियाँ अपनायी गयीं जिनसे, परिवेश किसी स्थान या क्षेत्र-विशेष का रहते हुए भी, प्रभाव यह पड़े कि रचना का कथ्य किसी बड़े सत्य को प्रस्तुत या अभिव्यंजित करता है। श्रीलाल शुक्ल का हाल में प्रकाशित उपन्यास **राग दरबारी** कुछ इसी कोटि का प्रयास है। उसमें एक बड़े नगर के आस-पास शिवपालगंज नामक एक बड़े-से गाँव की ज़िन्दगी से सारे 'आधुनिक भारतीय जीवन की मूल्यहीनता और संस्कारहीनता' को अभिव्यंजित करने की कोशिश है।

एक हद तक **राग दरबारी** इस प्रयास में सफल भी है। उसमें आज़ादी के बाद से धीरे-धीरे देश के जीवन में उत्पन्न होने वाली नैतिक गिरावट, स्वार्थपरता, संकीर्ण गुटबन्दी, छीना-झपटी, बढ़ती हुई गुण्डागर्दी, भ्रष्टाचार और इन सबसे उत्पन्न व्यापक असुरक्षा की भावना की कम-से-कम एक बिन्दु पर बड़ी तीखी तस्वीर है। इस पूरे दौर में राजनैतिक आजादी को लोकतंत्रीय व्यवस्था का रूप देने की हर कोशिश नाकाम रही है, बल्कि उसके बजाय, और उसके कारण ही, सर्वथा अलोकतांत्रिक प्रवृत्तियों और तत्वों का ज़ोर बढ़ा है। लोकतंत्र की हर पद्धति और

NMDC-088

सुविधा समाज के एक अत्यन्त स्वार्थी और उठाईगीर समुदाय के हाथों में पड़कर एक नये और अधिक निर्मम उत्पीड़न और भ्रष्टाचार का औजार बन गयी है—यह सब एक हद तक इस उपन्यास में उभरता है। शिवपालगंज की कोआपरेटिव यूनियन अपने यहाँ होनेवाले ग़बन के सम्बध में प्रस्ताव पास करती है कि 'सुपरवाइजर ने जो हमारी आठ हजार रुपये की हानि की है, उसकी पूर्ति के लिए सरकार अनुदान दे।' इसको स्पष्ट करते हुए यूनियन के प्रधान और स्थानीय नेता वैद्यजी कहते हैं:

'हमने पुलिस में सूचना दे दी है। आगे सरकार का दायित्व है। हमारे हाथ में कुछ नहीं है। ..... या तो सरकार सुपरवाइजर को बन्दी बनाकर हमारे सामने प्रस्तुत करे या कुछ और करे। जो भी हो, यदि सरकार चाहती है कि हमारी यूनियन जीवित रहे और उसके द्वारा जनता का कल्याण होता रहे तो उसे ही हर्जाना भरना पड़ेगा। अन्यथा यह यूनियन बैठ जायेगी। हमने अपना काम कर दिया। आगे का काम सरकार का है।'

हमारा आज का समाज इसी अद्‌भुत तर्क से संचालित होता जान पड़ता है। चाहे छंगामल विद्यालय इंटर कालेज की समिति का चुनाव हो, चाहे न्याय-पंचायत, या किसी अदालत में कोई मुकद्दमा हो या पुलिस द्वारा किसी वारदात की जाँच, चाहे कोई मेला हो अथवा किसी संस्था का सालाना जलसा—हर जगह, हर स्थिति में बेधड़क ढोंग पाखंड, धोखा-धड़ी, बेईमानी और झूठ का बोल-बाला है। सचाई पर, हक पर, ईमानदारी पर, आग्रह न सिर्फ़ व्यर्थ है, बल्कि मूर्खता का पर्याय हो गया है। छंगामल इंटर कालेज के प्रिंसिपल साहब रंगनाथ से कहते हैं :

'बाबू रंगनाथ, तुम्हारे विचार बहुत ऊँचे हैं। पर कुल मिलाकर उनसे यही साबित होता है कि तुम गधे हो।'।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि आज के भारतीय जीवन के इस पक्ष के बहुत-से, विभिन्न स्थितियों के, बड़े प्रभावी चित्र **राग दरबारी** में हैं, जो हमारे अति-परिचित अनुभव को फिर से ताज़ा कर जाते हैं। एक सर्व-सामान्य अनुभव स्तर का दो-टूक प्रस्तुतीकरण ही इस उपन्यास की सबसे बड़ी उपलब्धि और विशेषता है। यह उसके विविध प्रसंगों में भी झलकती है और उनसे सम्बद्ध चित्रों में भी। वैद्यजी एक आदर्श पाखण्डी, स्वार्थी और चालाक तथा धूर्त स्थानीय नेता हैं, जिससे हर आदमी

NMDC-088

का साबिका अक्सर नहीं तो कभी-कभी जरूर पड़ जाता है। उनका चमचा सनीचर, उनके दोनों प्राय: निकम्मे बेटे, रुप्पन और बद्री, उनके प्रतिद्वन्द्वी रामाधीन भीखमखेड़वी, अन्य गाँववासी—जोगनाथ, कुसहर प्रसाद, कालिकाप्रसाद, पं. राधेलाल, कालेज के खन्ना मास्टर या मास्टर मोतीराम, या सनकी लंगड़ और दरोगाजी, आदि—सभी जानी-पहचानी दुनिया के जाने-पहचाने लोग हैं। केवल प्रिंसिपल साहब और महाजन-दुकानदार गयादीन ही कुछ कम-पहचाने या थोड़े अप्रत्याशित हैं, क्योंकि न तो इतना फूहड़ और गँवार प्रिंसिपल इतना आम है और न ऐसा तीक्ष्ण, समझदार और बौद्धिक देहाती बनिया ही। इसीलिए दोनों ही पात्रों की, विशेषकर गयादीन की, उनमें आरोपित विशेषताएँ कुछ अटपटी लगती हैं। वे शायद दिलचस्पी तो बढ़ाती हैं, पर फिर अन्तत: निराश भी करती हैं क्योंकि इतने बड़े उपन्यास में भी उनका कोई सार्थक उपयोग नहीं होता है। रंगनाथ एक शहरी पर्यवेक्षक के रूप में इस परिवेश में है जो उसमें थोड़ा उलझता तो है, पर कुल मिलाकर फिर भी बाहर ही रह जाता है। अन्तत: न तो वह कोई रोचक विसदृशता (कंट्रास्ट) उत्पन्न करता है, न किसी प्रकार से किसी स्थिति को उकसाता है, और न स्वयं इस जीवन का एक सार्थक पात्र बन पाता है।

जो हो, एक सामान्य परिचित मानव-समुदाय और परिवेश इस उपन्यास में अवश्य मौजूद है। किन्तु परिचय की इस सामान्यता से आगे यदि आपको समकालीन विस्फोटक टकराहट की, तलाश या अपेक्षा हो तो वह इसमें नहीं मिलेगी। इसके विपरीत इस उपन्यास में प्रस्तुत ज़िन्दगी की तस्वीर में एक तरह की यथार्थवादी सपाटता है, दीखनेवाली ज़िन्दगी पर दबाव डालती नीचे कोई और ज़िन्दगी नहीं। इसी से गति और ठहराव का, अच्छाई और बुराई का, नये और पुराने का, शिक्षा और संस्कार का, आज़ादी के उभार और उसको दबाने वाली व्यवस्था का, कोई संघर्ष किसी स्तर पर इस उपन्यास में नहीं दीख पड़ता। पिछले बीस वर्ष में हमारे देश में बाहरी परिस्थितियों में और इन्सानों के भीतर जो कुछ बना और बिगड़ा है, जो कुछ बदला है या बदलने से रह गया है—यह उपन्यास उसकी पूरी तस्वीर तो है ही नहीं, एक सीमा के बाद सच्ची तस्वीर भी नहीं है, क्योंकि उसमें न तो कोई द्वन्द्व है न गति। सारा जीवन एक ही गहरे धूसर रंग में अंकित है। रंगों की ऐसी छायाहीनता भी एक प्रकार का धोखा या बहकावा ही है जो हमें न तो पुराने के टूटने को ठीक से देखने देता है, न नये के बनने को। पूरा भारतीय समाज और उसके भीतर जीनेवाले इन्सान आज एक ऐसे प्रत्यक्ष अथवा नामहीन

NMDC-088

अस्पष्ट अन्तःसंघर्ष के दौर में हैं जिसे नज़रंदाज़ करके हम कहीं नहीं पहुँच सकते, कम-से-कम रचनाकार तो उसे अनदेखा करके एक प्रकार की ऊपरी सतही तड़क-भड़क या टीम-टाम में फँसे बिना नहीं रह सकता।

इस उपन्यास का तथाकथित व्यंग्य इसी सतही तड़क-भड़क और टीम-टाम का प्रमाण है, क्योंकि वास्तव में इसकी व्यंग्य-शैली रेखाचित्रों या 'बैठे-ठाले' जैसे पत्रकारीय स्तम्भों के लिए अधिक उपयुक्त है। अधिक-से-अधिक वह छोटे-छोटे अनुभव-खण्डों को, छिन-छिन बदलते यथार्थ की झलकियों को, चुटीले और रोचक ढंग से पेश कर सकती है। एक बड़ी रचना के स्तर पर, जहाँ बड़े जीवन-पटल को उसकी गहराई में और एकाधिक आयामों में प्रस्तुत करने का उद्देश्य हो, इस प्रकार की व्यंग्य-शैली बाधक ही अधिक होगी, सहायक नहीं, क्योंकि वह स्थिति के व्यंग्य से अधिक शब्दों और भाषा के व्यंग्य पर बल देती है। राग दरबारी में यह दुखद रूप से स्पष्ट है। उसकी लगातार शाब्दिक टिप्पणियों ने स्थितियों को सरल, सपाट और सतही बना दिया है, और अपने अति-कथन द्वारा उनकी क्रूरता और अमानवीयता की धार को भोंथरा तथा बेअसर कर दिया है। फलस्वरूप उनकी नाटकीय भयावहता नष्ट हो गयी है और हर प्रसंग एक चमकीला वर्णन मात्र लगता है।

अपने बेटे से पिटकर आये हुए कुसहर प्रसाद के रोने का वर्णन देखिये : 'उधर बुजुर्ग का 'हाउ-हाउ' अब द्रुत लय छोड़कर विलम्बित की तरफ़ आने लगा और बाद में बड़े ही ठस किस्म की ताल में अटक गया। ऐसी बात गायकी की पद्धति के हिसाब से उल्टी पड़ती थी, पर मतलब साफ़ था कि वे उखड़ नहीं रहे हैं बल्कि जमकर बैठ रहे हैं।' या, 'वे सब मेले में जा रही थीं। भारतीय नारीत्व इस समय फ़नफ़नाकर अपने खोल के बाहर आ गया। वे बड़ी तेज़ी से आगे बढ़ रही थीं। मुँह पर न घूँघट था न लगाम थी। फेफड़े, गले और ज़बान को चीरती हुई आवाज़ में वे चीख रही थीं और एक ऐसी चिचियाहट निकाल रही थीं जिसे शहराती विद्वान और रेडियो विभाग के नौकर 'ग्रामगीत' कहते हैं।' या, 'आज के कथाकारों ने न जाने किससे सीखकर बार-बार कहा है कि दुख मनुष्य को माँजता है। बात कुल इतनी नहीं है। सच तो यह है कि दुख मनुष्य को पहले फींचता, फिर फींचकर निचोड़ता है, फिर निचोड़कर उसके चेहरे को घुग्घू-जैसा बनाकर उस पर दो-चार काली-सफ़ेद लकीरें खींच देता है।'

NMDC-088

सारा उपन्यास बात-बात पर ऐसी फब्तियों और अक्सर चालू किस्म की जुमले-बाजी से भरा पड़ा है। लेखक को शायद भरोसा नहीं कि यथार्थ की जो तस्वीर वह पेश कर रहा है, वह अपने आप बोलती है और उसमें ही पूरी धार मौजूद है। इसलिए वह लगातार अपनी ओर से सच्चाई को और भी पूरी तरह उघाड़ देने के लिए बेचैन दिखाई पड़ता है। जगह-जगह, मौके-बेमौके, हर तरह के लोगों पर, विशेषकर कवियों और लेखकों पर, 'व्यंग्य' की धाराप्रवाह बौछार है। इस सबमें चतुराई चाहे जितनी हो, रचनात्मक स्तर पर वह अनावश्यक और अप्रासंगिक ही है। उससे उपन्यास की अपनी आन्तरिक अन्विति टूटती है और वह बहुत से एक-आयामी रेखाचित्रों का संग्रह-मात्र रह जाता है। और इन रेखाचित्रों में भी विविधता नहीं, प्रत्येक रेखाचित्र पात्र और भंगिमा बदल-बदलकर एक ही बात, एक ही लहजे में कहता है, प्रत्येक की अपनी संरचना भी प्राय: एक जैसी है। इस धीर एकरसता के कारण प्रारम्भ के कुछ पृष्ठों के बाद जी ऊबने लगता है। जो बात एक-दो व्यंग्य-निबन्धों पर रेखाचित्रों में अपनी चमक और नवीनता से सचाई की एक झलक-जैसी जान पड़ती, वही उपन्यास के विस्तृत फलक में, पुनरावृत्ति, सतहीपन और एक-आयामिता के कारण, अन्तर्दृष्टि और कल्पनाशीलता के अभाव की सूचक जान पड़ती है। दरअसल कोई अन्तर्दृष्टि इस उपन्यास में है भी नहीं, वह एक असंतुष्ट, क्षुब्ध व्यक्ति की बेशुमार शिकायतों और खीझभरे आक्षेपों के अन्तहीन सिलसिले जैसा लगता है। इसीलिए वह हमारे निराश और परेशान मन को चाहे जितना बहलाये, कुल मिलाकर वह उतना ही एकांगी और भ्रामक है जितना सरकारी घोषणापत्रों और वक्तव्यों में अपनी सफलता और आत्मतुष्टि का फूहड़ आत्मप्रदर्शन।

अन्त में, एक बात उपन्यास के नाम के बारे में। पता नहीं किस रूप में वह कौन-सी 'दरबारी' मनोवृत्ति को पेश करता है। शायद इसमें कहीं कोई सार्थकता हो। पर जहाँ तक संगीत का सम्बन्ध है, इस उपन्यास में बहुत कम ही ऐसा है, जो 'एक कोमल करुण रंग' का आभास भी देता हो। इसी प्रकार प्रसिद्ध शास्त्रीय राग दरबारी कान्हड़ा की भावभूमि, वातावरण, स्वर-विन्यास, गायन-पद्धति–किसी से भी इस उपन्यास के किसी पक्ष की कोई दूर-दूर तक समानता नहीं। इसके शिल्प में एक भी ऐसा तत्व नहीं जो इस राग की गायकी की अनुशासित पद्धति का अनुसरण करता हो। बल्कि संगीत-प्रेमी पाठक को लगेगा कि इस उपन्यास का यह नाम एक सुन्दर, गम्भीर और अत्यन्त अभिव्यंजनापूर्ण संगीत-रूप को अकारण ही भ्रष्ट संदर्भ देता है। यह नामकरण चाहे चतुराई के कारण हो चाहे अज्ञानवश, एक अक्षम्य संवेदनशीलता का सूचक अवश्य है।

NMDC-088

NMDC-088

उत्तर प्रदेश राजर्षि टण्डन मुक्त विश्वविद्यालय
प्रयागराज

॥ सरस्वती नः सुभगा मयस्करत् ॥



सेक्टर-एफ, शान्तिपुरम, फाफामऊ, प्रयागराज-211021

www.uprtou.ac.in

टोल फ्री नम्बर - 1800-120-111-333